CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५.५

अध्यात्म लेखमाला

क्षु० जिनेन्द्र वर्णी

श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्म लेखमाला

क्षु० जिनेन्द्र वर्णी

श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक
श्री जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला
58/4 जैन स्ट्रीट, पानीपत/
एवं
B 19/60 डेयुरियाबीर, भेलूपुर
बाराणसी-221010

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण 2000 प्रतियाँ
सन् 1992
मूल्य : 10 रुपये

मुद्रक : श्री कमलनाथ मौर्य,
जयभारत प्रिंटिंग प्रेस,
डी ५१/१६८ सी-२, सूरजकुण्ड,
वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका

प्रस्तुत कृति 'अध्यात्म लेखमाला' परमश्रद्धेय गुरुवर श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के अनुपम लेखों का संग्रह है। उन्होंने अपने इन लेखों में धर्म के मर्म को सरल-सुबोध-उदाहरणगर्भित प्रवचन शैली में उद्घाटित किया है। धर्म क्या है ? आज का मानव इसके प्रति दिग्भ्रान्त बना हुआ है। उनकी भाषा में धर्म–रूढ़ि, सम्प्रदाय से अतीत प्राणीमात्र का स्वभाव है, अनुभव प्रसूत है, जीवन का सार है, जीवन का माधुर्य है, परमशान्ति का आस्वादन है। इसके अतिरिक्त धर्म के क्षेत्र में किसी प्रकार के दिखावे को उन्होंने अहंकार-पोषक, कषाय-सिञ्चक व साक्षात् अधर्म कहा है।

व्यवहार एवं निश्चयधर्म की मैत्री उनके इन लेखों का प्राण है। व्यवहार-धर्म की सार्थकता बताते हुये उन्होंने अपने लेखों में जिनभक्ति, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप आदि पर जोर दिया है, उनके हार्द्य को स्पष्ट किया है; परन्तु निश्चयधर्म की ओर उन्मुख करना वे कदापि नहीं भूले हैं। उनका कहना है—बाह्य क्रियायें साधन हैं साध्य नहीं, साध्यविहीन साधन निरर्थक हैं।

उन्होंने धर्म का प्रकाश व उसका विकास करने के लिये प्रतिपल सूक्ष्म अन्तर्निरीक्षण करने की प्रेरणा दी है, क्योंकि प्राणी का हानि-लाभ उसकी अंतरात्मा में, उसके चिन्तनों में निहित है। पर-दोषदृष्टि तजकर पद-पद पर आत्मोपदेश देना ही धर्म का रहस्य है। कषायों के शमन व इंद्रियों के दमनपूर्वक सात्विक गुणों को प्रकट करना ही है यथार्थ-साधना।

गुरुदेव ने अपने लेखों में इस ओर भी सजग किया है कि धर्म कोरी चर्चाओं में ही नहीं, प्रत्युत जीवन में झलकना चाहिये। धर्म का निवास स्थान हृदय है, मुख नहीं। इसीलिये धर्मको उन्होंने स्वयं जीवन में जीया था, सल्लेखनापूर्वक समाहित होकर धर्म के अन्तिम रूप का भी सफल प्रयोग किया। अनुभव की गहराईयों में उतरते हुये अनेकानेक ग्रन्थरत्न विश्रुत जैनेन्द्रसिद्धान्त-कोशकार गुरुदेव हमारे कल्याणार्थ दे गये, जिससे हमें आत्मबोध मिलता रहे।

मुझे आशा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि भौतिकता की चकाचौंध एवं अहंकार के सघन कपाटों में बंद अंतर्चेतना को पूज्य गुरुदेव के वात्सल्यपूर्ण मधुर उद्बोधनों से अवश्यमेव जागृति मिलेगी !

विनयावनत शिष्या—
डॉ० कु० निर्मला जैन
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के द्वारा सृजित समस्त साहित्य जिज्ञासु, मुमुक्षु एवं अध्यात्मरसिकों के कल्याणार्थ प्रकाशित करना 'श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला' का मुख्य उद्देश्य है। उनके सारगर्भित एवं अनुभवगम्य लेखों की माला को 'अध्यात्म लेखमाला' नामक इस पुस्तक के रूप में प्रथमबार प्रस्तुत करते हुये हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

हमें आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि पू० वर्णी जी के हृदयस्पर्शी, मार्मिक एवं बोधगम्य इन लेखों को पढ़कर अध्यात्मरसिक निश्चय ही एक नवीन रस-सागर में निमग्न हो जायेंगे। उनके अन्य साहित्य की भाँति इन लेखों की भाषा भी अत्यन्त ही सरल है, जिसे प्रत्येक अध्येता सुगमता से हृदयङ्गम कर सकता है।

दिगम्बर जैन महिला समाज (वाराणसी) के प्रति ग्रन्थमाला की ओर से हम आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने इस पुस्तक के आर्थिक-व्यय भार को वहन करते हुए इसके प्रकाशन को संभव बनाया। जिनवाणी के प्रचारार्थ कृत उनका यह सहयोग अवश्य ही उनके अध्यात्म-मार्ग को प्रशस्त करेगा।

निवेदक
नरेन्द्र जैन
मंत्री
श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला
वाराणसी शाखा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचयिता श्री जिनेन्द्र वर्णी का चमत्कार

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश की रचना

'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के रचयिता तथा सम्पादक श्री जिनेन्द्र वर्णी' का जन्म १४ मई १९२२ को पानीपत के सुप्रसिद्ध विद्वान स्व० श्री जयभगवान जी एडवोकेट के घर हुआ। केवल १८ वर्ष की आयु में क्षयरोग ग्रस्त हो जाने के कारण आपका एक फेफड़ा निकाल दिया गया, जिससे आपका शरीर सदा के लिये क्षीण हो गया। सन् १९४९ तक आपको धर्म के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं थी। अगस्त १९४९ के पर्यूषण पर्व में अपने पिता श्री के प्रवचन सुनने से आपका हृदय अकस्मात् धर्म की ओर मुड़ गया। पानीपत के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा शान्त परिणामी स्व० पं० रूपचन्द जी गार्गीय की प्रेरणा से आपने शास्त्र स्वाध्याय प्रारम्भ की और सन् १९५८ तक सकल जैन वाङ्मय पढ़ डाला। जो कुछ पढ़ते थे उसके सकल आवश्यक सन्दर्भ रजिस्टरों में लिखते जाते थे, जिससे आपके पास ४-५ रजिस्टर एकत्रित हो गये।

स्वाध्याय के फलस्वरूप आपके क्षयोपशम में अचिन्त्य विकास हुआ, जिसके कारण प्रथम बार का यह अध्ययन तथा सन्दर्भ संकलन आपको अपर्याप्त प्रतीत होने लगा। अतः सन् १९५८ में दूसरी बार सकल शास्त्रों का आद्योपान्त अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया। घर छोड़कर मन्दिर जी के कमरे में अकेले रहने लगे। १३-१४ घण्टे प्रतिदिन अध्ययन में रत रहने के कारण दूसरी बार वाली यह स्वाध्याय केवल १५-१६ महीनों में पूरी हो गई। सन्दर्भों का संग्रह अब की बार अपनी सुविधा की दृष्टि से रजिस्टरों में न करके खुले परचों पर किया और शीर्षकों तथा उपशीर्षकों में विभाजित उन परचों को वर्णानुक्रम में सजाते रहे। सन् १९५९ में जब यह स्वाध्याय पूर्ण हुआ उस समय परचों का यह विशाल ढेर आपके पास लगभग ४० किलो प्रमाण हो गया।

परचों के इस विशाल संग्रह को व्यवस्थित करने के लिये सन् १९५९ में आपने इसे एक सांगोपांग ग्रन्थ के रूप में लिपिबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया, और १९६० में जैनेन्द्र प्रमाण कोश के नाम से आठ मोटे खण्डों की रचना आपने कर डाली, जिसका चित्र शान्ति-पथ प्रदर्शन के प्रथम तथा द्वितीय संस्करणों में अंकित किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व० पं० रूपचन्द जी गार्गीय ने अप्रैल १९६० में जैनेन्द्र प्रमाण कोश की वृहदाकार लिपि प्रकाशन की इच्छा से देहली ले जाकर भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मी चन्द जी को दिखाई, उससे प्रभावित होकर उन्होंने तुरन्त उसे प्रकाशन के लिये मांगा, परन्तु यह कृति वर्णी जी ने प्रकाशन की दृष्टि से नहीं लिखी थी। उसमें बहुत सी कमियाँ थीं, इसलिये उन्होंने इसी हालत में देना स्वीकार नहीं किया। पण्डित जी के आग्रह से वे अनेक संशोधनों तथा परिवर्तनों से युक्त करके इसका रूपान्तर करने लगे, इसमें अनेकों नये शब्दों तथा विषयों की वृद्धि के साथ-साथ सम्पादन विधि में भी परिवर्तन किया। जैनेन्द्र प्रमाण कोश का यह द्वितीय रूपान्तर ही 'आज जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह एक आश्चर्य है कि इतनी रुग्ण काया को लेकर भी वर्णी जी ने सन् १९४९ से सन् १९६५ तक १७ वर्ष के लम्बे काल में कोश का संकलन सम्पादन तथा लेखन का समस्त कार्य अकेले ही सम्पन्न किया। सन् १९६४ में अन्तिम लिपि लिखते समय आपको अपनी शिष्या ब्र० कुमारी कौशल का कुछ सहयोग अवश्य प्राप्त हुआ था। यह केवल उनके हृदय में स्थित सरस्वती माता की भक्ति का ही प्रमाण है कि एक असंभव कार्य भी सहज सम्भव हो गया। भक्ति में महान शक्ति है, यही कारण है कि वर्णी जी अपने इतने महान कार्य का कर्तृत्व सदा माता सरस्वती के चरणों में समर्पित करते आये हैं। यह है भक्ति तथा कृतज्ञता का आदर्श!

यह कोष साधारण शब्द कोश जैसा कुछ न होकर अपनी जाति का एक विशिष्ट कोश है। शब्दार्थ के अतिरिक्त शीर्षकों, उपशीर्षकों तथा अवान्तर शीर्षकों में विभक्त उसकी वे समस्त सूचनायें इसमें निबद्ध हैं जिनकी कि किसी भी प्रवक्ता, लेखक अथवा सन्धाता को आवश्यकता पड़ती है। शब्द का अर्थ, उसके भेद-प्रभेद, कार्यकारणभाव, हेयोपादेयता, निश्चय-व्यवहार तथा उसकी मुख्यता-गौणता, शंका-समाधान, समन्वय आदि के सभी विकल्प इसमें सहज उपलब्ध हो जाते हैं। विशेषता यह है कि इसमें रचयिता ने अपनी ओर से एक भी शब्द न लिखकर प्रत्येक विकल्प के अन्तर्गत अनेक शास्त्रों से संकलित आचार्यों के मूल वाक्य निबद्ध किये हैं। इसलिए यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि 'जिसके हाथ में यह महान कृति है, उसके हाथ में सकल जैन वाङ्मय है'।

—सुरेश कुमार जैन गार्गीय
पानीपत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
	पूर्वार्ध	
१.	नास्तिकता क्यों	१
२.	जीवन रहस्य	४
३.	प्रेम-धर्म	७
४.	जिन-भक्ति	१२
५.	तीर्थ-महत्व	१५
६.	प्रतिमा की वाणी	१८
७.	महावीर की शांति-सुधा	२०
८.	सरस्वती सागर का नवनीत	२२
९.	दिव्य-ध्वनि	२५
१०.	अहिंसा वीरों का भूषण है — —	२७
११.	अध्यात्म का प्रयोजन त्याग	३२
१२.	परिणामों की सुरक्षा	३५
१३.	वस्तु स्वतंत्रता	३७
१४.	आन्तरिक स्वास्थ्य	३९
१५.	स्वानुभव की पुकार	४१
१६.	अध्यात्म-अमृत	४४
१७.	अध्यात्म-दीप	४६
१८.	कल्याण (एक आध्यात्मिक रूपक)	४९
१९.	राग मेरा नहीं	५२
२०.	ज्ञानधारा व कर्मधारा	५८
२१.	भेदज्ञानी का सच्चा पुरुषार्थ	६०
२२.	अद्वैत-ब्रह्म	६५
२३.	अध्यात्मसार	६८
२४.	अनेकान्त महिमा	७३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सं०	विषय	पृष्ठ
	उत्तरार्ध	
१.	शांति मार्ग	७९
२.	शांति-पथ या जैन दर्शनसार	
क.	तीन रत्न व सप्त तत्त्व	८५
ख.	वस्तु स्वभाव की कार्यकारण व्यवस्था	९०
ग.	साधना	९३
३.	सत्यं शिवं सुन्दरं	९७
४.	जीवन	१००
५.	जीवन में अध्यात्म का स्थान	१०४
६.	अध्यात्म व अहिंसा	१०६
७.	स्वतंत्रता का प्रणेता पर्यूषण	११०
८.	वैराग्य	११४
९.	तीर्थंकर व अवतारवाद	११८
१०.	तीर्थंकरवाद का अनादि प्रवाह क्रम	१२०
❀	गुरु उद्बोधन	१२६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री जिनेन्द्रवर्णी (जन्म १४ मई १९२१ सल्लेखना २४ मई १९८३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. नास्तिकता क्यों

दिव्य ध्वनि सितम्बर - नवम्बर १९६६ :

विज्ञान के इस उन्नत युग में नास्तिकता क्यों, रह-रहकर यह प्रश्न प्रत्येक मुमुक्षु के हृदय में उत्पन्न होता है। यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर का अनुसन्धान व समस्या का प्रतिकार, दोनों के प्रति ही विद्वज्जन व साधुवर्ग अपना पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु न जाने क्यों सर्व पुरुषार्थ विफल जा रहा है। सम्भवतः इस लिए कि धर्म इतना अधिक रूढ़िग्रस्त हो गया है कि इसका असली स्वरूप भी लुप्त हो चुका है। पूजा व्रत, उपवास, शुद्ध भोजन, दूसरों को उपदेश देना इत्यादि क्रियाओं तक ही सीमित होकर रह गया है। परन्तु इन क्रियाओं के प्रयोजन की ओर कितनों की दृष्टि जाती है, यह भगवान ही ठीक जानते हैं।

वीतराग देव के दर्शन या पूजन का प्रयोजन क्या है? क्या आँखों से भगवान की सुन्दरता को देखना अथवा कुछ पाठ स्तुति आदि का मुँह से उच्चारण करना अथवा कुछ सामग्री भगवान के समक्ष अर्पण करना? क्या भगवान स्तुति आदि के इच्छुक हैं अथवा सामग्री के भूखे हैं? आखिर क्या भावना लेकर प्रभु के समक्ष जायें? धन प्राप्ति की या पुत्र प्राप्ति की या नौकरी प्राप्ति की या परीक्षा में उत्तीर्ण होने की। अरे प्रभो! भगवान को क्यों व्यर्थ में इस प्रपंच में फंसाने का प्रयत्न करते हो। ये सब चीजें उनके पास हैं ही कहाँ? उनके पास तो है वीतरागता, अंतरंग की परम उज्ज्वलता, परम शांति व ज्ञान की असीम व्यापकता। जो कुछ उनके पास है, उसकी भावना न करके अपने लौकिक स्वार्थों की भावना करने से क्या लाभ होने वाला है। होता है उल्टा स्वार्थ-पोषण, जिसके फलस्वरूप होती हैं ब्लैक-मार्केट आदि दुर्व्यसनों में प्रवृत्ति, अभिमान पूर्वक क्रोधादि कषायों की जागृति! अर्थात् चित्त की कलुषता। इसलिए तो बाहर में प्रसिद्ध हो गया है कि जितने धर्मात्मा उतने हो पापी! धर्म पर विश्वास हो तो कैसे हो?

शुद्ध भोजन किसलिए किया जाता है? क्या शुद्ध भोजन करने मात्र के लिए अथवा 'मैं शुद्ध भोजी हूँ' ऐसा अभिमान करने के लिए? सात्विक भावों की प्राप्ति की परवाह न करके केवल शुद्ध भोजन को धर्म मानना, किस बुद्धि की उपज है? यह भगवान ही ठीक जानते हैं। अरे प्रभो! शुद्ध भोजन के बहाने राजसिक व पौष्टिक भोजन करना, शुद्ध भोजीपने के अहंकार पूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रोधादि कषायों को पुष्ट करना ही यदि इसका प्रयोजन है, तब तो शुद्ध की अपेक्षा अशुद्ध आहार ही ठीक है। ऐसा सोना किस काम का जो कानों को काट डाले। परन्तु शुद्ध भोजीवर्ग में अधिकांश भाग ऐसा हो देखने में आता है। धर्म पर आस्था हो तो कैसे हो ?

उपदेश देने की प्रवृत्ति किसलिए है ? क्या दूसरों को समझाने के लिए या अपनी विद्वता का प्रदर्शन करके लोगों की प्रशंसा प्राप्त करन के लिए ? अरे भगवन् ! क्या ही अच्छा होता यदि दूसरों को समझाने से पहिले स्वयं समझ लेता। परोपकार के बहाने अपनी लोकेषणा की पुष्टि करना ही यदि इसका प्रयोजन है तब तो शास्त्र ज्ञान ही अहित के लिए हुआ। ऐसे शास्त्र ज्ञान से क्या लाभ ? पर अधिकतर देखा ही जाता है। उपदेश जो कुछ मुंह से कहता है स्वयं उसके जीवन में उस बात की झाँकी दिखाई नहीं देती ! धर्म पर श्रद्धा हो तो कैसे हो ?

प्रतिमा का या साधुवृत्ति का धारण किसलिए है ? क्या प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए या अपने रूप का प्रदर्शन करने के लिए। अथवा दूसरों पर अपने तप व त्याग का रोब गांठने के लिए या अनेकों प्रकार के अव्यवहार्य त्यागादि करके गृहस्थ लोगों पर भार डालने के लिये ? तप व त्यागादि के अभिमान पूर्वक क्रोधादि कषायों का उत्पादन ही यदि इसका प्रयोजन है तब तो इस त्याग व साधुवृत्ति की अपेक्षा गृहस्थ में रहना ही उत्तम है परन्तु अधिकतर देखने में ऐसा ही आता है। धर्म पर विश्वास हो तो कैसे हो ?

और इसी प्रकार हम देखते हैं कि धर्म की प्रत्येक क्रिया यद्यपि अमृत रूप है, परन्तु प्रदर्शन मात्र के प्रयोजन से की जाने के कारण विष बन गयी है। मानव के गुण हैं क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष, प्रेम, बलिदान, निष्काम सेवा, निष्कषायता, प्रसन्नता इत्यादि। जो धर्मात्माओं की अपेक्षा कहीं-कहीं साधारण जनों में अधिक पाये जाते हैं। इसके विपरीत धर्मात्माओं में दिखाई देते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोकेषणा, स्वार्थ, दूसरों पर रोब जमाकर अपनी सेवा कराना, कषाय-पुष्टि, उदासी, झुंझलाहट आदि। धर्म पर फिर विश्वास कैसे हो ?

भैया दूसरों को उपदेश देना, कलापूर्ण भाषण से हजारों व्यक्तियों को एकत्रित करने में गर्व मानना, भोजन की समस्या को अधिकाधिक जटिल बनाते जाना, भोजन शुद्धि व पैदल विहार की महिमा का प्रदर्शन करने के लिए अधिकाधिक आरम्भ व परिग्रह को स्वीकार करने से भी न घबराना, साक्षात् उद्दिष्ट भोजन को झूठ-मूठ अनुद्दिष्ट दिखाने व मानने के लिए अधिकाधिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृत्रिमताओं का जाल फैलाना आगन्तुकों से पहले झटके में ही कठोर त्याग कराना इत्यादि प्रवृत्तियाँ धर्म पर आस्था जमवाने के लिए नहीं बल्कि उसे हटाने के लिए हैं। लोकेषणावश आज यह सब कुछ नहीं देखा जा रहा है, इसी कारण धर्म ढोंग समझा जाता है। परन्तु वास्तव में ढोंग नहीं, क्योंकि धर्म का यह रूप है ही नहीं। वल्कि इसे अधर्म भी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। धर्म तो अन्तरंग का प्रकाश है, जीवन का मधुर रस है, आत्मा का असीम सौंदर्य है, हृदय का माधुर्य है। कहाँ तक कहें एक हजार जिह्वा द्वारा हजारों वर्षों तक निरन्तर कहते रहने पर भी इसकी महिमा का बखान किया जाना सम्भव नहीं है। इसकी महिमा का अन्तरंग में विकास हो जाने पर ही ये सब क्रियायें धर्म कही जा सकती हैं। अन्यथा सब कुछ ढोंग है, रूढ़ि है, कषाय-पोषण का मार्ग है।

इस महिमा की जाग्रति के लिए अन्धकारपूर्ण हृदय में अध्यात्म का प्रकाश करना होगा, जिस प्रकाश में कि व्यक्ति देख सकें स्वयं अपने हृदय की ग्रन्थियों को, पढ़ सकें स्वयं अपने अन्तष्करण को, समझ सकें कषाय की विचित्र लीला को, अनुभव कर सकें स्वयं अपनी चिन्ताओं व व्यग्रताओं को तथा उनके कारणों को। प्रभो! उस महिमाको प्राप्त करने के लिए बाहर में नहीं भीतर में कुछ कार्य करना होगा। बाहर में सब कुछ क्रियायें करके भी अथवा बड़े-बड़े शास्त्रों का अध्ययन करके भी, वक्तृत्व-कला प्राप्त करके भी अथवा शिष्य-मण्डली एकत्रित करके तथा अपने अनुयायियों से अधिकाधिक प्रशंसा प्राप्त करके भी, अध्यात्म विषयक बड़ी-बड़ी चर्चायें व बातें करके भी यदि अन्तःकरण को पढ़ना न सीखा तो क्या सीखा। अपनी हानि या लाभ अन्तरात्मा में तथा चिन्तनों में निहित है, बाहर शरीर में या उसकी क्रियाओं में नहीं। ऐसा निर्णय करके कषायों का शमन तथा इन्द्रियों का दमन करते हुए अधिकाधिक सात्विक गुणों को प्रकट करना ही यथार्थ साधना है। दूसरों का दोष देखने की बजाय पद-पद पर अपने को उपदेश देना ही धर्म का रहस्य है। मन में नित्य होने वाले अन्तर्द्वन्द्व को प्रत्यक्ष करके हेय-उपादेय का निर्णय करना, हृदय गुहा में छिपे अन्तः प्रभु से मुँह दर मुँह बात करना, प्रभु की वीतरागता से कुछ सीखना तथा उसकी छाप अपने जीवन पर लगाना ही धर्म मार्ग का अनुसरण करना है। बाह्य क्रियायें साधन हैं साध्य नहीं। साध्य विहीन साधक निरर्थक है। सच्ची साधना ही धर्म की प्रभावना का, डिगती हुई श्रद्धा का, स्थितिकरण कराने का व नास्तिकता मार्जन का एकमात्र उपाय है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. जीवन रहस्य

सन्मति सन्देश मई १९६०.

अत्यन्त तृप्ति कर व आह्लादजनक, निज जीवन रस से अनभिज्ञ मैं धर्म को पुकार करूं, धर्म की दुहाई दूं, आश्चर्य है ! अपनी कल्पनाओं में न जाने मैं धर्म के सम्बन्ध में क्या आकार बनाये वैठा हूँ कि नित्य ही धार्मिक क्रियायें करते रहते हुए भी निराश वना हुआ हूँ। धर्म की महिमा का शब्दों में गान करते हुए भी अन्धकार में भूला चला जा रहा हूँ-न जाने किस ओर ? ऊपर की कुछ क्रियाओं को ही धर्म मानकर मैं सन्तुष्ट भले हो गया हूँ पर जीवन तो सन्तुष्ट नहीं है। और यदि जीवन सन्तुष्ट नहीं हुआ तो धर्म से लाभ ही क्या हुआ ?

१. क्या यही जीवन है—जीवन का भार सिर पर लादे सुबह-शाम तक मैं भागा जा रहा हूँ। इस दौड़-धूप में जीवन घुला जा रहा है। मिल क्या रहा है ? चिन्तायें, व्याकुलतायें ! सुबह-शाम तक चिन्ता की ज्वाला में जलता हुआ अंतरंग की कलकलाहट में कलकल का वेदन करता हुआ जीवन का जो रंग आज मैं बना हुआ देख रहा हूँ, क्या उसे जीवन कह सकता हूँ। मेरे सिर पर स्वयं भार बन कर रह गया है, क्या यह भी कोई जीवन है ? संभवतः पशु भी मुझसे अच्छा है, जिसे खाने के पश्चात् जुगाली करने का तो समय मिल जाता है। पर मुझे तो संभवतः उन पदार्थों को देखने का भी अवकाश नहीं, जिनको कि मैंने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अपनाया है।

विचारिये तो सही कि ऐसे जीवन से लाभ भी क्या ? क्या इसी का नाम है मानव जीवन ? क्या इसी पर इतरा रहे हो ? अपने को मानव कहते हुये क्या इसी जीवन पर गर्व करते हो ? याद तो कीजिये उस दिन की जबकि अन्तिम श्वास गिनते हुए आप यह विचार कर रहे होंगे, कि आज तक मैंने क्या किया ? क्या कुछ साथ ले जा रहा हूँ।

२. जीवन का सार—प्रभो ! अब कुछ अपने जीवन की ओर दृष्टि डाल, इस पर कुछ दया कर, वह रस जिसके एक बार उत्पन्न हो जाने पर कृत-कृत्य हो जाये, प्रभु वनने के लिए नहीं, जीवन के रस में खो जाने के लिए, इसके माधुर्य का आस्वादन करने के लिए, इसके सौन्दर्य का दर्शन करने के लिए, इस रहस्य से परिचय प्राप्त करने के लिए तथा इसका सार जानने के लिए, अब कुछ दृष्टि को वदल ! इधर देख भगवन् ! जिधर न कुछ अभिलाषा है न कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिंता, है केवल एक शांति ! जिस ओर दिखता है बहुत कुछ, पर जहाँ पर मेरा कोई नहीं जिस ओर पड़ी है दृष्टि की सुन्दरता, पर मात्र देखने के लिए, छूने के लिए नहीं ! जहाँ पड़े हैं अनेकों पदार्थ, चेतन और अचेतन, पूर्णतया स्वतन्त्र ! जहाँ पड़े हुए वह स्वतन्त्र रूप में बदल रहे हैं। अनेक रूप धर-धरकर मानों मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं, बिना इस बात की प्रतीक्षा किये कि मैं इस रूप परिवर्तन में उनकी कोई सहायता कर दूं। आ हा हा ! कितना सुन्दर है विश्व का यह विराट स्वरूप ! सुन्दरता को देखने में तन्मय होते हुए मुझे कहाँ रह सकता है कोई विकल्प, नहीं वहाँ चिन्ता कहाँ ?

आ हा हा ! कितना हल्का है जीवन का यह रूप कितनो आह्लादप्रद है मेरे अंतरंग रस की यह धार ? इसको एक क्षण के लिए भी पाकर मैं क्यों करने लगा व्यर्थ की भाग-दौड़ ? आओ भो ज्ञानी जीवों ! आओ एक क्षण को इसमें खोये जाकर देखो तो सही क्या पाया है तुमने ? इतने माधुर्य से परिपूर्ण रहते हुए भी मैं नित्य करता रहता हूँ विकल्प, जगत को अपने अनुरूप बनाने का और घोलता रहता हूँ विष इसमें !

३. क्या भेष बदलने पर शान्ति मिली—अरे रे ! कैसी दशा बनी है आज तेरी ? अब तक तो थी कुछ लौकिक व्यग्रताएँ, जिनसे घबरा कर कि भागा और शरण ली धर्म की तत्त्व विचारणाओं की। पर धिक्कार है मेरी इस दृष्टि को जो यहाँ आकर भी बाज न आई, और उत्पन्न ही कर बैठी कुछ व्यग्रतायें नवीन जाति की। वह थी धनोपार्जन सम्बन्धी व्यग्रता और यहाँ आ बैठी ज्ञानोपार्जन सम्बन्धी व्यग्रता ! वहाँ थी दस व्यक्तियों के कुटुम्ब को अपने अनुरूप चलाने की व्यग्रता और यहाँ कर बैठा सर्व सृष्टि की दृष्टि को अपनी दृष्टि के अनुकूल चलाने की व्यग्रता। वहाँ थी अधिकाधिक धन-संचय की व्यग्रता और यहाँ बना बैठा अधिकाधिक ख्याति-संचय की व्यग्रता। वहाँ थी कुटुम्बियों को धमकाने की व्यग्रता और यहाँ बना बैठा अपने से प्रतिकूल दृष्टि वालों पर आक्षेप करने या व्यंग्य करने की व्यग्रता !

व्यग्रता से ही छुट्टी न मिली तो क्या लाभ हुआ इस दिशा में आने से भी ? बात तो वहीं की वहीं रही। जीवन तो हल्का न बन सका। और यदि जीवन ही हल्का न बना तो कोरे तत्वज्ञान से ही क्या ? गधे का भार है और कुछ नहीं। क्या इसी को कहते हैं तत्वचिन्तन व तत्वचर्चा ? प्रभो ! विचार तो सही कि जब जगत को स्वतन्त्र निर्णय कर लिया, तो फिर क्यों उसे स्वतन्त्र ही रहने नहीं देता, इसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हुए अर्थात् असंभव को संभव बनाने का प्रयत्न करते हुए तुझे मिलेगा ही क्या, निराशा व असफलता के अतिरिक्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः ओ चेतन ! अब इस व्यग्रता से विराम पा । जो कुछ जाना या निर्णय किया है, उसके अनुरूप अपना जीवन बनाने का प्रयत्न कर। आवश्यकता दूसरों में परिवर्तन कराने की नहीं, बल्कि निज में परिवर्तन करने की है। जिसमें व्यग्रता रहने पर सृष्टि भी व्यग्र दिखाई देती है, यही है जीवन का रहस्य। इसके बिना सर्व शून्य, विद्वत्ता उस रहस्य की साधना नहीं। दृष्टि उस रहस्य की साधक है, पर दृष्टि कथन मात्र का नाम नहीं है। दृष्टि कहते हैं जिसमें जीवन में परिवर्तन हो जाये, दूसरों को समझाने की भावना या अपने से विपरीत बोलने वालों पर झुंझलाना तात्विक दृष्टि नहीं।

जगत में अनन्तानन्त प्राणी भरे पड़े हैं। सबकी दृष्टि व रुचि भिन्न है। किस-किस को समझाता फिरेगा ? पागल हो जायेगा अतः अब इस समझाने आदि के विकल्प आवें भी तो माध्यस्थ वृत्ति से समझा। आक्षेप या व्यंग्य की क्या आवश्यकता ? यदि कोई न भी समझे तो भी प्रेम में वाधा क्यों ? सब स्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्र रीति से जो कुछ माने उसे मानने दे, तुझे उससे क्या हानि ? हाँ प्रेम में विषमता उत्पन्न करके जीवन को भारी बनाने से अवश्य हानि है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. प्रेम–धर्म

दिव्य ध्वनि दिसम्बर १९६६ :

संसार में कोई भी वस्तु निःस्वभावी नहीं। जड़ हो या चेतन, सभी वस्तुएं अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहकर ही अपनी सत्ता को स्थिर रख सकती हैं। चेतन आत्मा यदि अपने स्वभावको त्याग दे तो आप ही वताइए कि क्या उसकी सत्ता रही कही जा सकती है ? अथवा यों कह लीजिये कि स्वभाव में स्थित रहना ही वस्तु का धर्म है। धर्म का त्याग वस्तु की सत्ता का नाश है। मनुष्य की मनुष्यता भी तभी तक सुरक्षित है जब तक कि वह अपने धर्म में स्थित है। यद्यपि आज के नास्तिक युग में धर्म शब्द ही हँसी का स्थान वन गया है, परन्तु मैं आपको यह वता देना चाहता हूँ कि इस नास्तिकता का परिणाम मानव का सर्वनाश होगा, क्योंकि प्रकृति के उपरोक्त नियमको तोड़ा नहीं जा सकता।

आज की नास्तिकता का भी कोई कारण है और वह है धर्म का साम्प्रदायिक वन्धनों में जकड़ कर रुढ़िग्रस्त हो जाना। वास्तव में धर्म सम्प्रदाय का नाम नहीं, वल्कि है वस्तु के स्वभाव का नाम। जल व अग्नि के भी धर्म हैं— शीतलता व दाहकता। तब सर्वोत्कृष्ट माने जाने वाले चेतन मनुष्य का कोई धर्म नहीं, यह बात युक्ति पर नहीं उतरती। जड़ पदार्थ तथा कीट-पतंग से लेकर पशु-पक्षी तक सभी चेतन पदार्थ बुद्धिशाली होने के कारण स्वयं अपनी ओर से अपने-अपने स्वभाव में कुछ भी हेर-फेर करने को समर्थ नहीं होते। वे सर्व प्रकार प्रकृति के शासनका अनुसरण करते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि वे सदा अपने-अपने धर्म पर स्थित रहते हैं। परन्तु मनुष्य बुद्धिशाली होने के कारण अपनी ओर से अपने स्वभाव में हेरफेर करने को समर्थ है। इसलिये वह कदाचित् प्रकृति के शासन में रहता है, और कदाचित् नहीं भी रहता।

यद्यपि बुद्धि का मिलना हित के लिए है बुद्धि का छोटा भाई इसका दुरुपयोग करता है इसलिए हित की वजाय अहित हो जाता है। और मजे की बात है कि मानव इसी को अपना हित मानता हुआ बराबर संहार व विनाश की ओर बढ़ता है। अहंकार के वशीभूत होकर मानव जब प्रकृति के शासन को चैलेंज करता हुआ अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करता है, तभी समझिये कि उसने अपने धर्म का त्याग कर दिया है। और अधर्म की रौ में बह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गया है। आज का अहंकारी युग इसी तथ्य की साक्षात् उपमा है। सभी देख रहे हैं कि ज्यों-ज्यों मानव अपने स्वभाव की अवहेलना करके अहंकार पथ का अनुसरण करता हुआ अधर्म की ओर जा रहा है, त्यों त्यों संहार व विनाश उसके अधिकाधिक निकट आता जा रहा है। भले ही अहंकार की नास्तिक धारणा उसे धर्म का मूल्य स्वीकार करने की आज्ञा न दे, परन्तु उसके विनाशकारी दुष्परिणामों से वह बच नहीं सकता। जानबूझ कर खाये या बिना जाने खाये, विष तो प्राणघातक ही होगा।

अधर्म व नास्तिकता को ही धर्म मानकर यदि कोई अपनाये तो क्या उसका परिणाम बदल सकता है? विष को ही अमृत मान कर पिये तो क्या वह प्राणघातक नहीं होगा। आज विश्व में सब ओर त्राहि-त्राहि मची है। सभी दिशाओं से शांति-शांति की पुकार सुनाई पड़ती है। परन्तु हो क्या रहा है—अधिकाधिक भय, अत्राण, संहार व विनाश। यहाँ तक धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में भी संप्रदायवाद व अहंकार का पोषण, असहिष्णुता, आक्षेप, लड़ाई व झगड़े ही सर्वत्र दृष्टिगत हैं। कारण क्या? वही उपरोक्त नास्तिकता व अधर्म को ही धर्म मानना तथा उस पर गर्व करना। ओ मानव! अब भी सम्भल जा। यदि रक्षा व शान्ति चाहता है तो धर्म की शरण में आ, परन्तु याद रख कि धर्म मुख या शरीर की विभूति नहीं हृदय की है। तू मुख से अवश्य धर्म व न्याय, शान्ति व आत्मा की बात कहता है। शरीर से अवश्य न्याय व शान्ति के बड़े-बड़े प्रस्तावों पर हस्ताक्षर करता है, बड़े भाषण देता है व लेख लिखता है, परन्तु तेरे हृदय पर नास्तिकता व अधर्म का गहनतम छाया हुआ है। बाहर से परिवर्तन करने से कुछ न होगा, हृदय में परिवर्तन करना होगा, पुनः अपनी विस्मृत प्राचीन ऋषि-प्रणीत संस्कृति की ओर लौटना, उस संस्कृति की ओर जिसको कि ज्ञान व विज्ञान के मिथ्या अभिमानवश तूने तिरस्कार पूर्वक ठुकरा दिया है।

आओ देखें कि मानव का सच्चा धर्म क्या है? परन्तु याद रखिये कि अहंकार के जीवित रहते उस पवित्र स्वभाव के दर्शन होने मुश्किल हैं। अतः धर्म की जाँच करने से पहले अपने अहंकार का दमन करो। यदि ऐसा करना वर्तमान में तुम्हारे लिए सम्भव नहीं तो चलिए उन ऋषियों के चरणों में जिन्होंने सदा अपने उपदेशों, तपस्याओं व सद्भावनाओं से मानव की रक्षा की है। आप कहते हैं कि क्यों नहीं भगवान, देवता व ऋषि आकर हमारी रक्षा करते, परन्तु वे भूल जाते हैं इस बात को कि क्या वास्तव में तुम उसके पात्र हो। तिरस्कृत होने पर भी क्या तुम किसी का आतीथ्य स्वीकार करोगे? तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर तुमसे नित्य तिरस्कृत वे भला तुम्हारी रक्षा क्यों करेंगे ? यदि उनकी सहायता चाहते हो तो छोड़िये इस विज्ञान के संहारकारी अभिमान को, छोड़िये इस स्वच्छन्दता पूर्ण स्वाधीनता व साम्प्रदायिकता को, करिए स्वीकार आधीनता उन ऋषियों की, करिए विश्वास उनके अनुभवों पर और रखिए मस्तक पर उनकी आज्ञाओं को, देखिये वे अब भी तुम्हें अमृत प्रदान कर रहे हैं। वह अमृत जो कि वर्षों की कठिन तपस्याओं व अनुभवों से उन्होंने प्राप्त किया है, परन्तु याद रखिये कि वह पवित्र है। अपवित्र हृदय में न ठहर सकेगा जिस प्रकार कि सिंहनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही ठहरता है।

अहंकार के विषैले प्रभाव का क्षण भर को दमन करके सुनिये उनकी मधुर-ध्वनि। नतमस्तक होकर तथा पश्चातापपूर्ण आँसुओं से उनके चरण प्रक्षालित करके धारण कीजिये उनका दिव्य उपदेश, बातों से नहीं हृदय से, क्योंकि धर्म का निवास स्थान हृदय है मुख नहीं। मन्दिर, सत्संग, शास्त्र, प्रभुभक्ति व उपदेश आदि सभी उस धर्म के निमित्त हैं, क्योंकि इनके माध्यम से धर्म को समझ व सूझ-बूझ आती है आज के सम्प्रदाय मंदिर आदि को ही धर्म मान बैठे हैं और यही कारण है कि धर्म केवल दिखावटी रह गया है। मन्दिर आदि स्वयं धर्म नहीं बल्कि धर्म के साधन हैं जैसे कि स्कूल, कालिज व लैबोरेट्रीज स्वयं ज्ञान व विज्ञान नहीं बल्कि इस विज्ञान के साधन हैं। साधन को साध्य मान बैठना भूल है और इसी प्रकार साधन के बिना साध्य की सिद्धी मानना भी मूर्खता है। जैसे कि बिना स्कूल आदि के ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति असंभव है। इसीलिए धर्म व शांति तथा उसके सच्चे उपाय जानने के लिये नास्तिकता को छोड़िये और ऋषियों व शास्त्रों की शरण में आइये।

सुनिये वे कह रहे हैं कि मानव का ही नहीं प्राणीमात्र का धर्म प्रेम है। क्षुद्रकाय चींटी हो या हो विशालकाय गजराज, भद्र परिणामी गाय हो या हो क्रूर परिणामी सिंह, सभी अपने जीवन के विशेष अंगों में प्रेम को स्वीकार करते हैं। सिंह भी अपने बच्चों से प्रेम करता है, अपने उपकारी से प्रेम करता है। परन्तु हाय रे मानव ! धिक्कार है तेरी बुद्धि को जिसने प्रेम की बजाय स्वार्थ को ही अपना धर्म बना लिया। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रेम मधुर है और स्वार्थ कटु, प्रेम आकर्षण है और स्वार्थ विकर्षण, प्रेम उपकारी है और स्वार्थ अपकारी, प्रेम बलिदान जानता है स्वार्थ पर-शोषण, प्रेम सहनशील है और स्वार्थ असहिष्णु, प्रेम दयार्द्र है और स्वार्थ क्रूर, प्रेम में संगठन है और स्वार्थ में फूट, प्रेम निर्माणकारी है और स्वार्थ संहारकारी। इतना प्रत्यक्ष देखते व जानते हुए भी हम प्रेम व धर्म का मूल्य स्वीकार नहीं करते, यही बड़ा दुर्भाग्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। मानव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। क्योंकि वह बुद्धिधारी है। प्रेम से भाग्य और स्वार्थ से दुर्भाग्य उत्पन्न होता है। यह जानकर भी हम अधिकाधिक स्वार्थी होते जा रहे हैं। प्रेम की बात कहते अवश्य हैं पर करते हैं स्वार्थ, घृणा, पर-शोषण, ब्लैकमार्केट, अन्याय, अनीति, विदेशी आक्रमण, एटमबम सब स्वार्थ की उपज हैं। इसे कौन इन्कार कर सकता है फिर भी स्वार्थ ही हमारा माई-बाप बना हुआ है।

क्या हो अच्छा हो कि हमारी जितनी शक्ति का व्यय स्वार्थ पर हो रहा है उतना ही प्रेमपथ पर होने लगे। परन्तु इसके लिये बलिदान करना होगा—अपने संकल्पों का बलिदान, साम्प्रदायिकता का बलिदान। और यह तभी संभव है जबकि हम वर्तमान की विलासिता को ठुकरा कर सात्विकता को अपनायें, क्योंकि विलासिता से आवश्यकताओं में वृद्धि होती है, जिससे काम, क्रोध, लोभ आदि सभी आसुरी शक्तियों को बल मिलता है। दूसरी ओर सात्विकता से आवश्यकताओं में हानि आती है, जिससे सभी उपरोक्त आसुरी शक्तियें स्वत. निष्प्राण हो जाती हैं। आवश्यकता ही अविष्कार की जननी है। विलासिता की भावना ने ही वैज्ञानिक साधनों का अविष्कार किया। यद्यपि विज्ञान अच्छा है, पर विलासिता के उद्देश्य से होने के कारण संहार की दिशा में जा निकला है, इसलिए ऐसा विज्ञान भी त्याज्य है।

आप कहेंगे कि प्रेम धर्म है या धर्मका छोटा सा अंग। मैं कहूँगा कि प्रेम ही धर्म है। जिस प्रकार कि अहिंसा ही धर्म कहा जाता है। हिंसक भावनाओं का अन्दर ही अन्दर गला घोंट देने के कारण प्रेम ही परिग्रह-त्याग, सत्य, अचौर्य व ब्रह्मचर्य है। दूसरे के लिये अपना सर्वस्व बलिदान करने को उद्यत रहने के कारण प्रेम ही परिग्रह-त्याग, अकिंचन्य व दान है। अत्यन्त सहिष्णु होने के कारण प्रेम ही क्षमा है। विनम्र होने के कारण वह मार्दव और निःस्वार्थी होने के कारण आर्जत्व है। प्रेम के माधुर्य को जानने के कारण प्रेम का ही लोभी है, धन का नहीं, अतः वही सन्तोष व शौच है। विलासिता का दूर से ही त्याग करने, पर-दुःख-कातर होने के कारण वही संयम तथा प्रेम के लिये अपने संकटों को न गिनने के कारण वही तप है।

पति-पत्नी संबंध में वह प्रेम, सन्तान में स्नेह व वात्सल्य, माता-पिता व अध्यापक जनों में श्रद्धा, मित्रों में सख्यभाव, स्वामी में दास्य भाव, सर्वसत्व में मैत्री व कल्याण की भावना, देश में राष्ट्र-भक्ति व आत्म-बलिदान, गुरु व भगवान में आत्म-समर्पण व भक्ति, अध्यात्म में आत्म-रमणता, और परमार्थ में मुक्ति कहलाता है। गुणी जनों को देखकर वह प्रेम ही प्रमोद, दुःखी जनों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखकर करुणा व अनुकम्पा, विधर्मियों के आड़े आने पर मध्यस्थता, कषायों का सामना होने पर प्रशम व प्रशान्तता, उपद्रवों में सहनशीलता, भोग की सामग्री समक्ष आने पर संवेग व निर्वेद और आध्यात्मिक क्षेत्र में आस्तिक्य का रूप धारण करता है। कहाँ तक कहा जाये, लौकिक व अलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में, व्यष्टि व समष्टिगत दोनों ही जीवन में प्रेम का रूप देखने पर वही सर्वस्व व एकमात्र धर्म दिखाई देता है। इसलिये वही सर्वस्व है। सभी अन्य धर्म उसके गर्भ में समाये हुये हैं।

यहाँ कहा जा सकता है कि प्रेम राग है और वह बन्धन माना गया है। सत्य है परन्तु स्वार्थ मिश्रित प्रेम व निःस्वार्थ प्रेम अर्थात् फल कामना सहित और फलेच्छा रहित दोनों ही रूपों में प्राप्त होने के कारण वह एक ही प्रेम राग व विराग दोनों रूप धारण कर लेता है। यहाँ निःस्वार्थ व फलेच्छा शून्य प्रेम की बात है। लौकिक स्वार्थी प्रेम की नहीं। यहाँ उस प्रेम को बात है जिसमें प्रसन्नता व उत्साहपूर्वक अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया जाता है। भोग व विलास को न छोड़कर प्रेम को राग बताकर स्वच्छन्द वर्तन करने में हित नहीं है। भाई ! झूठ-मूठ आध्यात्मिकता का अहंकार धारण करने की बजाय अन्तःकरण का शोधन करना सीख इसी में कल्याण है। बातें सदा करता आया है, अब कुछ जीवन में अपनाना सीख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. जिन-भक्ति

सन्मति संदेश सितम्बर १९५७ :

ऐसा ही कोई अचिंत्य माहात्म्य ही आपकी भक्ति का है, तभी तो आपकी भक्ति सम्यक्त्व का कारण कही जाती है। यह आपकी भक्ति अधिक निकट होते हुए भी अतिदूर है और अतिसरल होते हुए भी अधिक कठिन है। धन्य है वह जीव जिसको आपकी भक्ति प्राप्त है।

१. बाह्य संयोग अनन्तबार मिले : अनादि काल से आज तक इस पंच-परावर्तन रूप संसार में संसरण करते अनन्तकाल निष्फल गंवाया। कौन सा पुद्‌गल परमाणु ऐसा रहा, जिसे अपने कार्माण तथा नोकर्म शरीर रूप करके अनन्तों बार न छोड़ा हो। इस लोकाकाश का कौन सा प्रदेश ऐसा है जिस पर अनन्त बार जन्म-मरण न किया हो। अनन्त अतीत काल की उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के चक्र में कौन सा समय ऐसा है, जिसमें अनन्त-अनन्त बार जन्म-मरण न किया हो। चौरासी लाख योनियों में कौन सा भव ऐसा है जिसे अनन्त बार धर-धर के न छोड़ा हो। औपशमिक, क्षायोपशमिक भावों के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त, एक-एक अविभागप्रतिच्छेद की वृद्धि हानिगत्-षट्-स्थान पतित, असंख्यात लोक प्रमाण परिणामों या भावों में से सम्यक्त्व के अतिरिक्त कौन सा भाव ऐसा है जो अनन्तों बार धारण कर-करके न छोड़ा हो।

बाह्य संयोगों में से कौनसा संयोग ऐसा है जो अनन्तों बार मिल-मिल के न बिछड़ा हो। देवगति, चक्रवर्ती पद, उत्तम संहनन आदि लौकिक संयोगों की तो बात ही क्या ? साक्षात् केवलि भगवान के पादमूल को प्राप्त कर साक्षात् अरहन्त के दर्शन करने तथा उनकी दिव्यध्वनि को कानों से सुनने का सौभाग्य अनन्तों बार प्राप्त करके छोड़ दिया। परन्तु आज तक भगवान के दर्शन हो न हो पाये। कितनी आश्चर्यजनक बात है। भगवान को आँखों से देखा पर भगवान के दर्शन न हुए। भगवान की वाणी कानों से सुनी पर जिनवाणी न सुनी। श्रावक व मुनि के व्रत धार-धार कठिन तपस्या की पर श्रावक या मुनि न बना।

२. फिर भी सयोग दृष्टि : इतना सब कुछ हो चुकने पर भी उसी प्रकार के संयोगों मात्र की ओर का लक्ष्य आज तक न छूटा "यह उत्तम संयोग मिले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो कल्याण हो, विदेह क्षेत्र में जावे तो सम्यक्त्व हो" मानों यह संयोग मेरे लिये कोई नई वस्तु है। इस प्रकार की संयोगाश्रित दृष्टि के वशीभूत हुआ, वर्तमान में प्राप्त उत्तरोत्तर दुर्लभ मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर, ज्ञान का क्षयोपशम, जिन-बिम्ब-दर्शन, जिनवाणी श्रवण इत्यादिक। सर्व अनुकूल सामग्री के संयोग का भी महत्व नहीं गिनता। आज तक की आयु यों ही वृथा गँवाता चला आया। न स्वहित करने की रुचि हुई और न ही इन संयोगों का महत्व दिखाई दिया।

भो आत्मन्! यह कुछ संयोग तो सम्यक्त्व अर्थात् कल्याण के निमित्त हैं, फिर भी तुझमें क्यों कल्याण प्रकट न हो सका। इन सब संयोगों के रहते भी जब तुझे कुछ लाभ न हो सका, तो भविष्य में अपनी इच्छानुसार कदाचित् विदेह क्षेत्र में सीमन्धर भगवान का संसर्ग प्राप्त करके भी तू क्या नयी बात उत्पन्न कर सकेगा? वही ढाक के तीन पात रहेंगे।

३. जिनेन्द्र आपका भक्त न बन सका : हे जिनेन्द्र! हे नाथ! आपकी शरण को जो प्राप्त हुआ, उसका संसार विनष्ट हो गया। हे प्रभो! आपके दर्शन भी एक बार जिसने किये उसको सर्वसिद्धि मिल गयी। हे त्रिलोकाधीश! आपकी शीतल छाया में जो आया उसको भवताप का अवसर ही न रहा। हे त्रिलोक मुकुटमणि! आपको जिसने ध्याया, वह आप जैसा ही बन गया। फिर क्या कारण है कि मैं आजतक इन सब बातों से वंचित रहा। मैं भी तो आपका भक्त हूँ।

नहीं प्रभु—भूल गया। क्षमा करना। मैं वास्तव में आजतक आपका भक्त ही न बन सका। मैं तो भक्त बना रहा आपके दिव्य शरीर का, आपकी समवशरण विभूति का, आपके ३४ अतिशयों का, आपके अष्ट प्रातिहार्यों का, और सर्वोपरि लोकेषणा का। लोक मुझे जिन-भक्त कहे, त्यागी कहे, मेरा सत्कार करे, मेरे मुख से निकले एक-एक वचन से मेरी प्रतिष्ठा जग में फैले। हृदयस्तल के एक कोने में इस राक्षसी भावना को छिपाये क्या मैं एक क्षण को भी कभी आपके दर्शन करने के योग्य हुआ? नहीं।

यदि इन सब भावनाओं से अतिदूर, वर्तमान उपलब्ध ज्ञान के क्षितिज पर, आपकी अरुण विरागता को निहारता, तो सर्वलौकिक विभूति के संयोग तथा उपरोक्त भावनायें अवश्य मेरी दृष्टि में निस्सार हो जातीं। मुझको अवश्य आप सदृश निज-आनन्द-घन चैतन्य प्रभु के दर्शन हो जाते। जिससे मैं कृतकृत्य हुए बिना न रहता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे जिनेश ! आज आपके परम प्रसाद से इस सूक्ष्म रहस्य का संवेदन हो जाने पर जिस अनुपम आनन्द तथा शक्ति का अनुभव मुझको होता है, उसके होते हुए क्या कभी मुझे मन का संशय हो सकता है, क्या इस लोक तथा पर-लोक सम्बन्धी कोई आकांक्षा रह सकती है, क्या किसी वस्तु में कभी ग्लानि या विचिकित्सा भाव उत्पन्न हो सकता है। क्या आपके सिवाय किसी अन्य देवी देवता का या परमार्थ का आश्रय अथवा शुभाशुभ वृत्ति में इष्टानिष्टपना शेष रह सकता है। क्या मेरी आन्तरिक धर्म तथा शान्ति से कभी अरुचि तथा अप्रीति हो सकती है ? क्या इससे प्रभावित हो, आपके मार्ग पर आगे बढ़े बिना रहा जा सकता है ? कदापि नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. तीर्थ-महत्व

:सन्मति संदेश सितम्बर १९६३.

जीवन बड़ा मूल्यवान है, यदि कोई इसका मूल्य आंक सके तो। यद्यपि वह जीवन वनस्पति लोक से लेकर कीट पतंग व पशु-पक्षियों पर्यन्त क्रमपूर्वक विकास को प्राप्त होता हुआ काफी विकसित हो जाता है, परन्तु मनुष्य जन्म ही एक ऐसा है जिसमें कि वह अपने पूर्ण अंगों को लेकर प्रकट होता है, और तिरने का काम कर सकता है। जीवन के पाँच कोष माने गये हैं। अन्नमय कोष अर्थात् शरीर, प्राणमय कोष (हलन-चलन) अर्थात् हेयोपादेय का विचार, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष अर्थात् विशेष प्रकार के सुख दुख का वेदन। वनस्पति लोक में केवल अन्नमय कोष उदित होता है। कीट पतंग आदि में अन्नमय व प्राणमय दो कोष प्रकट होते हैं। चींटी आदि अन्डज जीवों में अन्न, प्राणमय व मनोमय तीन कोष उदित होते हैं। पशुओं में अन्न-प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय चार कोष उदित होते हैं मनुष्यभव ही ऐसा है जिसमें कि पाँच कोष प्राप्त होते हैं इसी पर से मनुष्यत्व की दुर्लभता व इसका मूल्य जान लेना चाहिये।

मनुष्यत्व के इस मूल्य को जानना क्या है? क्या शब्दों मात्र में इसकी महिमा का गान करते रहना या इसका मन्थन करके आनन्दामृत की प्राप्ति करना? यह विचारणीय है। वनस्पति से लेकर पशुओं पर्यन्त के सर्व जीव तो प्रकृति के आधीन रहते हैं, अर्थात् जो व जिस प्रकार प्राकृतिक रूप से उन्हें जीवन निर्वाह के साधन, सुविधायें व दुविधायें प्राप्त होती हैं, वे उनमें ही सन्तुष्ट व प्रसन्न रहते हैं। कभी भी प्राकृतिक प्रवाह को बदलने का प्रयत्न नहीं करते। यही कारण है कि यहाँ तक जीव बराबर क्रमोन्नत दशाओं को प्राप्त करता चला आता है, परन्तु ज्यों ही वह मनुष्यभव में प्रवेश पाता है अपने को प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करके वह प्रकृति-प्रवाह का घात करने लगता है और अहंकार व अभिमानपूर्वक अपने स्वार्थ का ही पोषण करने में इसका सार्थक्य समझता है। और इस बात की बिल्कुल परवाह नहीं रहती कि ऐसा करने में प्रकृति माता की अन्य संतानें कितनी दुःखी हो रही हैं। तथा उसके फलस्वरूप प्रकृति माता उससे कुपित होती जा रही है। जिसके प्रभाव से बचना उसके लिए असंभव है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक उलझती जाती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। और उन्हीं उलझनों में फंसा जीवन एक दिन सीमा को समाप्त करके यहाँ से रोता-रोता चला जाता है। और पुनः निम्नकोटियों को प्राप्त हो जाता है। भले अहंकारी मानव इस बात पर विश्वास न करे परन्तु यही चक्र सदा से चला आ रहा है और चलता रहेगा।

मनुष्य जन्म की सार्थकता तो इसमें थी कि जिस प्रकार प्रकृति-प्रवाह का अनुसरण करता हुआ वह सहज ही यहाँ आ गया हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अपने जीवन को प्रकृति-प्रवाह के अधीन ही रखे। उसमें अपनी ओर से कोई कृत्रिमता न करे। यदि ऐसा करे तो अवश्य ही वह इससे अगली जो अन्तिम श्रेणी है उसे प्राप्त कर ले। परन्तु ऐसा न करके वह प्रकृति से विरुद्ध चलने में ही अपना गौरव मानने लगता हैं। और बजाय उन्नत दशा को प्राप्त होने के नीचे गिर जाता है। यह सब काम अदृष्ट रूप से होता रहता है। काश ! इन सबको गुरु वाक्यों पर से विश्वास करके जीवन को उन्नति की ओर ही ले जाता बस यही है मनुष्यत्व का मूल्यांकन।

गुरु वाक्यों पर विश्वास करने के लिए बड़ी साधना की आवश्यकता है। देवदर्शन, गुरुसेवा, स्वाध्याय संयमादि उसी के उपाय हैं। विश्वास होना केवल सुनने या पढ़ने से नहीं कहा जा सकता, बल्कि पढ़ा या सुना जीवन में उतारने से कहा जाता है। आज से पहले पढ़ना अधिक नहीं था न ही तर्क-वितर्क पूर्ण सैद्धान्तिक उपदेश होता था। परन्तु उस समय मानव में श्रद्धा व विश्वास था। आज जबकि विद्या का प्रसार अधिक हो गया है, नित्य नया साहित्य पढ़ने को मिलता है। बड़े-बड़े उपदेशों द्वारा महान् सिद्धांत की बातें सुनना बहुत सहज हो गया है तब श्रद्धा व विश्वास बहुत कम रह गया है। केवल तर्क-वितर्क ही शेष रह गया, जिससे अहंकार व अभिमान का पोषण हुआ और उपदेश पाकर भी तथा अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करके भी फल उल्टा ही निकला। अर्थात् उन्नति की बजाय वह अवनति के मार्ग पर चल दिया। शाब्दिक ज्ञान के कारण वह अपने को ज्ञानी समझ बैठा। परन्तु वास्तव में वह पतित हो गया।

मनुष्य (जन्म प्राप्ति) का फल उन्नति में है। उन्नति पवित्रता की प्राप्ति में है, पवित्रता की प्राप्ति भावनाओं से होती है, भावनाओं का मूल श्रद्धा व विश्वास है। और श्रद्धा व विश्वास का आधार देवदर्शन आदि हैं। तीर्थ क्षेत्र की वन्दना भी इसी के अन्तर्गत है। यद्यपि सामान्य रूप से देवदर्शन स्थानीय मन्दिरों में भी किये जा सकते हैं परन्तु तीर्थ क्षेत्र इस दिशा में कुछ विशेषता रखते हैं। भले ही आज की तार्किक बुद्धि तीर्थ क्षेत्रों को पत्थरों व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रजकणों का ढेर बता कर उनका तिरस्कार करती हो परन्तु वास्तव में जिस विशेषता से देवदर्शन आदि प्रयोजनों की सिद्धि तीर्थ क्षेत्रों पर होती है, वैसी स्थानीय मन्दिरों में नहीं हो पाती। इसके दो कारण हैं। पहला कारण है उस स्थान की विशेषता। स्थान की अपेक्षा यद्यपि वह पत्थरों व रजकणों का ढेर अवश्य है, परन्तु वे रजकण व पत्थर साधारण नहीं हैं। जिस प्रकार कि प्रतिमा का पाषाण साधारण नहीं है। तीर्थ क्षेत्र के पत्थरों व टीलों में महापुरुषों के इतिहास छिपे हैं। वहाँ के रुक्षपाषाण उनकी तपस्याओं व बलिदानों से सींचे गये हैं। वहाँ का वायुमण्डल उनकी भावनाओं से पवित्र है और वहाँ की दिशाओं में नित्य ही उनके गुणगान गूंजा करते हैं यदि कोई इस दृष्टि से तीर्थवन्दना कर सके तो अवश्य ही उसके हृदय में पवित्रता का सचार होने लगे। दूसरा कारण है कि यात्री वहाँ जाकर कुछ दिनों के लिए घर के व्याकुल वातावरण को भूल जाता है और निर्विकल्प रूप से धर्मध्यान में रत रहता है जिससे उसके हृदय में एक अपूर्व पवित्रता का उदय होता है, और उसका चित्त लौकिक जीवन से विरक्त होकर आध्यात्मिक शांति व शीतलता का अनुभव करने लगता है।

इन दोनों कारणों से तीर्थक्षेत्रों का महत्व महान् है परन्तु यह तभी संभव है जबकि वहाँ की पवित्रता सुरक्षित रखी जाये, जैसे कि मन्दिर की पवित्रता। यदि मन्दिर में मलमूत्र का त्याग किया जाने लगे तथा वहाँ बैठकर ताश आदि खेला जाने लगे अथवा इन्द्रिय विषय भोगे जाने लगें तो वह स्थान मन्दिर नहीं रहता घर बन जाता है उसी प्रकार यदि तीर्थ क्षेत्रों पर जाकर पिकनिक मनाई जाने लगे, चाट पकौड़े खाई जाने लागे, गप-शप लगाई जाने लगे अथवा अन्य इन्द्रिय विषय भोगे जाने लगें तो वह तीर्थ क्षेत्र नहीं रहता, सैरगाह बन जाता है। ऐसी अवस्था में उससे उपरोक्त पवित्रता की साधना संभव नहीं। अतः हमारा व प्रबन्धकों का कर्तव्य है कि तीर्थ क्षेत्रों की पवित्रता को हर प्रकार सुरक्षित रखें। वहाँ विलासिता के साधनों को प्रवेश न होने दें। यात्रियों को उपदेश व संयमित जीवन की प्रेरणा की जावे।

यदि इन सब बातों का पूरा ध्यान रखा जाये तो तीर्थ वास्तव में तीर्थ हैं अर्थात् संसार-सागर का किनारा है क्योंकि उपरोक्त पवित्रता को प्राप्त करके यदि मनुष्य चाहे तो उन्नति करता हुआ पूर्ण पवित्रता के अन्तिम छोर को प्राप्त कर सकता है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. प्रतिमा की वाणी

सन्मति संदेश अप्रैल-मई १९५८.

कौन कहता है कि आपकी प्रतिमा पाषाण की है। अरे भोले प्राणी! इस भ्रम को दो घड़ी के लिये छोड़! इधर आ! देख क्या सचमुच पाषाण की है? नहीं तेरी मुग्धता बता रही है कि तुझे यह पाषण की नहीं ज्ञान की दीखती है। पर उसे ज्ञान चक्षु से भी देख सिर्फ चर्म-चक्षु से ही नहीं देख।

हे जिनेन्द्र! कितना अचिन्त्य है आपका माहात्म्य, कि इच्छा के अभाव में भी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति है और वह भी वस्तु-स्वरूप के भाव से रहित न हो। इस बात पर भले साधारण जन विश्वास न करे, पर जिन महाभाग्य निकट भव्यों को आपकी प्रतिमा से दिव्य ध्वनि का ग्रहण हुआ हो, उन्हें इस माहात्म्य के संबंध में संशय को स्थान नहीं रहता।

कितनी सार्थक है वह गुन्जार, कितनी सरल है यह पुकार कितना हृदय-स्पर्शी है यह गान, कितनी मधुर है यह तान। अहो! आपकी इस मुक्तभाषा में ही जब इतना रहस्य भरा है कि सर्व मुमुक्षु मनुष्यों व पशुओं को अपने अपने वीतरागी परिणामों के रूप में, उसके अर्थ का निश्चय हो जाता है। तो समवशरण में विराजमान आपके सर्वांग से झरती उस अलौकिक भाषा के संबंध में शंका को अवकाश कहाँ?

अहो! प्रभु के सर्वांग से झरते, उसके शांत रस के झरने के मधुर जल से इस पिपासा को शांत करने का, इससे उत्तम अवसर और कौनसा आयेगा? हाथके को छोड़ भविष्य की आशा में संतोष मानना बुद्धिमत्ता नहीं है—भव्य! भविष्य संबंधी सीमंधर प्रभु के दर्शन की आशा के आधार पर इस अमृत को मत छोड़।

देख, प्रभु सीमंधर तो वर्तमान में ही, साक्षात् तेरे सामने विराजे हैं। क्या कहा? आँखें दुखती हैं अरे प्राणी! यहाँ आंखों का काम नहीं। भगवान के दर्शन आँख से नहीं, ज्ञान से होते हैं। एक बार ज्ञान के पट खोलकर देख तो सही। अपनी सम्पूर्ण कैवल्य विभूति तथा अतिशयों सहित वह प्रभु साक्षात् ही तुझमें पधारे हैं। अलौकिक अतिथि आये हैं, स्वागत कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ठहर-तनिक (मनका) कोलाहल वन्दकर, सुन ! प्रभु की दिव्यध्वनि छूटती है। नहीं सुनी ? हाय हाय ! बड़ा अभागा है। अरे चर्मकर्ण को नहीं, अन्तर-कर्ण की डाट खोल ! विरोध को तिलांजलि दे, पक्षपात को छोड़, और सुन ओंकार नाद।

'भो मुमुक्षु ! मुझको देख। सम्पूर्ण विश्वको जानते हुए भी क्या मेरी यह दृष्टि तनिक भी निज-पर से हटकर इधर-उधर जाती है। देख-इसने विश्व में एक ही पदार्थको लक्ष्य बनाया है, और वहाँ ही ठहर गयी है तब किंचित् मात्र वस्तुओं को जानने मात्र से ही तेरी दृष्टि चलायमान होती है ? निज को छोड़ कर क्यों अन्य पदार्थों या निमित्तों में हित-अहित को खोजती डोलती है, यह तो केवल तेरे ज्ञेयमात्र हैं, हित-अहितकारी नहीं।

तू स्तुति करता है ? देख मेरी ओर देख। क्या तेरी इस स्तुति से मेरा लक्ष्य बाधित हुआ है, नहीं ? तो क्यों तनिक मात्रसी प्रशंसा में फूलकर, राजसी लोकेषणा की विकराल दाढ़ में प्रवेश कर निज हत्या करता है ?
यह तो केवल तेरे ज्ञेयमात्र हैं हितकारी नहीं।

देख ! दूर खड़े उस मनुष्य को। क्या करता है ? निन्दा ? अब तनिक इधर तो देख क्या उसके उन शब्दों से मेरी शान्ति भंग हुई है ? नहीं। तो क्यों किंचित् मात्र विरोध में, निजपक्ष का घात मान दुःखी होता है ? वह तो किंचित् भी तेरा अहित करने में समर्थ नहीं। यदि स्वयं व्याकुल होकर अपना अहित न करे तो वह तो केवल तेरा ज्ञेय है। अहितकारी नहीं।

'क्या कहता है ? तू शक्तिहीन है ? अरे रे ! इस नपुंसकता को छोड़ ! तू तो अनन्त शक्ति का भंडार तेजपुंज पूर्णज्ञान ज्योति है।'

"इस नासाग्र दृष्टि में तूने क्या देखा ? क्या आँखों की टिमकार रहितता ? ना ना क्या करता है ? इसे मत देख ! यह मैं नहीं हूँ। इसमें देख मेरे ज्ञान की उज्ज्वलता व एक लक्ष्यता।"

"कर ऊपर कर में क्या देखा ? राज्यपाठादिक का त्याग ? नहीं, नहीं ! इसमें देख मेरे ज्ञान की कृतकृत्यता अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा मात्र पना !

अडोल आसन में क्या देखा ? शारीरिक दृढ़ता ? भूलता है प्राणी ! इसमें देख ज्ञाता स्वभाव की एकान्त कहानी !.........

बस बस प्रभो ! खुल गयी मेरी आँखें ! पा लिया वह रहस्य। मिट गयी भव की शंका। फूट निकला आनन्द का फव्वारा। अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। चाहिये एकमात्र आपकी शरण। जान लिया अलौकिक मर्म। द्वैत में अद्वैत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. महावीर की शांति-सुधा

सन्मति संदेश अप्रैल १९६० :

ओ मानव ! जाग ! देख तुझे जीवनस्तर की या जीवनादर्श की भूली याद को ताजा करने के लिये वह दिन पुनः आ गया है, जो प्रतिवर्ष आकर तुझे सावधान करने का प्रयत्न किया करता है। आज महावीर जयन्ती है। एक महानात्मा का जन्म दिवस ! आज उस महानात्मा का जन्म तेरे निकट इस पृथ्वीतल पर हुआ था, जिसने शब्दों में नहीं बल्कि अपने जीवन से तुझे वास्तविक जीवनस्तर की उन्नति का पाठ पढ़ाया था। जिसने जीवनस्तर को ऊँचा उठाने का यह मार्ग जिसे तूने अपनाया हुआ है त्यागकर, कोई वह मार्ग अपनाया था, जिसमें से निकलने वाली शांति-सुधा की मन्द-मन्द गमन करती हुई सुधा सरिता बराबर आगे बढ़ती चली गयी है, और एक दिन वह आया कि अन्तर में कल्लोलित शान्त-रस सागर में जा मिली। उसके जीवन के तार झंकार उठे और सहज ही उत्पन्न होने वाली झंकार मैंने व तूने भी सुनी।

विलासिता के युग की इस तीव्र धार में बहते हुए अथवा विलासिता की होड़ में आगे बढ़ने वाले ओ मानव ! तेरा जीवन स्वयं साक्षी है इस बात का कि इस दौड़-धूप से तुझे मिल क्या रहा है ? सुबह से शाम तक तेली के बैल की भांति कठिन परिश्रम करता हुआ भी तू स्पष्ट यह देख रहा है कि इतना चल लेने पर भी अभी तक वहीं है, जहाँ से कि चला था, शांति के लिए उद्यम करता हुआ भी तू अशांत बना हुआ है। चिन्ताओं व कलकलाहटों से भरा तेरा यह जीवन स्वयं तेरे ऊपर भार बन कर रह गया है। क्या कभी विचारा है कि यह क्या और क्यों ? क्या यही मानव-जीवन का सार है ?

अरे भद्र ! गुरुदेव तुझे पुकार-पुकार कर बुला रहे हैं, झंझोड़-झंझोड़ कर जगा रहे हैं, सावधान कर रहे हैं, और तेरे जीवन का सार तुझे दर्शा रहे हैं, पर खेद है कि तुझे दिखाई तक नहीं देता। धिक्कार है इस बाहर की इस सोने-चाँदी की धूल को, जिसने कि तुझे स्तम्भित कर दिया है कि स्वयं अपनी शांति व चिंता की बात सोचने का भी अवकाश नहीं लेने देती। अरे भाई ! अब तो सावधान हो और देख कि जीवन-स्तर की उन्नति इस धूल के संग्रह में है या किसी और बात में। जीवन-स्तर की उन्नति का मापदण्ड यह धूल नहीं बल्कि स्वयं जीवन है, चारित्र है। जीवन शांत हो तभी जीवन स्तर को ऊँचा उठा कहा जा सकता है। धूल-स्तर का नाम तो जीवन-स्तर नहीं हो सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओ प्राणी ! याद कर उस झंकार में से निकलते शांति नाद को जिसने मुझे और तुझे ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों व नारकियों तक को शांति का संदेश सुनाया और विश्व के सामने जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया, उसे जीवन का रहस्य दर्शाया। शब्दों मात्र में नहीं बल्कि अपने जीवन की रेखाओं से। आ ! अब खेल-तमाशे छोड़ और आँखें खोल कर देख कि वह क्या दर्शा रहा है और क्या दे रहा है।

यह दिवस उत्सव मना कर सन्तोष पा लेने मात्र के लिए नहीं है, बल्कि जीवन के ढंग को बदलने का प्रयास करने के लिए है उस महानात्मा ने पूर्ण शांति को जिस प्रकार प्राप्त किया, उसी प्रकार तू भी प्राप्त कर, यह घोषणा करने आया है यह दिन ! प्रभु की महिमा प्रभु के साथ गयी, उनके जीवन का स्वाद उनको हुआ, उसे वह अपने साथ ही ले गये। उसकी लकीर मात्र को पीटने से क्या फल ? तेरे पिता सुल्तान थे तो तुझे क्या ? 'मेरे प्रभु इतने महान् थे, ऐसी रट लगाने से मुझे क्या लाभ ? उनकी महत्ता शांति में निहित थी तू भी उस अन्तर शान्ति की प्राप्ति के लिए वर्तमान जीवन की दिशा में कोई मोड़ लाने का प्रयत्न करे। तभी उनकी महिमा का गुणगान गाया कहा जा सकता है। अपने जीवन को उस रंग में रंगना ही वास्तव में वीर जयन्ती उत्सव को मनाना है।

काश ! कि दूसरों को दिखाने की बजाय तू स्वयं देख लेता, दूसरों को सुनाने की बजाय तू स्वयं सुन लेता और अपने जीवन में उतार कर इस रहस्य के रसास्वादन में मग्न होकर भूल जाता इस लोक को और स्वयं अपने को भी, खो जाता उस शांति में, घुलकर तन्मय हो जाता इस सागर के साथ ! पूर्णतः न सही पर तुच्छ मात्र सा भी रसास्वादन तेरे जीवन के तारों को झंकार देने के लिए पर्याप्त है। जिसमें से निकलने वाले रसीले नाद में तू मग्न हुए बिना न रह सकेगा। यह दिन मनाया है तो आ। और शांतिपथ के उस रहस्य को वैज्ञानिक रीति से समझ ! आज तक साम्प्रदायिकता के चक्कर में पड़ा रहने के कारण उसे पुनः पुनः पढ़कर या सुनकर भी न समझ सका। उसका वैज्ञानिक रहस्य साम्प्रदायिकता के संकुचित वातावरण में नहीं बल्कि विश्वव्यापी स्वतन्त्र दृष्टि में निहित है। जिसमें चींटी से लेकर मानव पर्यन्त के सर्व प्राणी एक होकर रह जायें। छोटे बड़े सबकी बाधा अपनी बाधा हो जाये। सबमें अपने दर्शन और अपने में सबके दर्शन होने लगें। यही है वास्तविक अहिंसा धर्म। यज्ञों से पशुओं की रक्षा करने में भगवान का अधिक महत्व नहीं है बल्कि इस प्रकार की अहिंसात्मक विश्व-मैत्री से जीवन को रंग लेने से है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. सरस्वती सागर का नवनीत

सन्मति संदेश मार्च १९५८ :

अहो ! कितना स्वादिष्ट, स्वास्थ्यप्रदायक तथा पुष्टिकारक है सरस्वती सागर का नवनीत, जिसके क्षणिक आनन्द से ही अन्तः शक्ति का संचार स्वतः छलछला उठता है। और उस क्षण के पश्चात् उस स्वाद के प्रति की उत्कंठा ध्रुव होकर रह जाती है।

इस मनोहर सरस्वती सागर को चारों दिशाओं से पृथक-पृथक देखने पर इसके चार भिन्न रूप दिखाई देते हैं, परन्तु इन द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, और प्रथमानुयोग दिशाओं से पृथक-पृथक उठाये हुए नवनीत कणों में भी क्या परस्पर भेद है ? इस बात का इन चारों कणों को चखने पर ही पता चलता है और चारों में से एक ही स्वाद का अनुभव होने पर उन चारों की एकता प्रकट हो जाती है।

क्योंकि आत्मसागर में सम्पूर्ण वासना समूह को धक्का देकर ज्ञेय रूप से उसमें तिरते षड्द्रव्य व सप्ततत्त्वादि रूप अनेक मकर व जलयानादि सहित, उस एक अखण्ड तत्व में निमग्न हुआ, अन्तर प्रवाहित शीतल आनन्द पूरका मधुर आस्वाद ही, द्रव्यानुयोग के नवनीत का आस्वाद है।

क्योंकि शक्ति की हीनतावश उस सागर में अधिक देर निमग्न न रह सकने के कारण, उसमें से निकलकर, सांस लेने के लिए, किनारे पर खड़ा हो उस सागर में स्नान करते हुए पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को देखने में निमग्न हुआ। तथा उनके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले आनन्द की लोलुपतावश अन्य सर्व ओर से दृष्टि हट जाने के कारण ,बाह्य द्रव्यों के त्यागरूप व्रतादि अनुष्ठानों में निमग्न हुआ, अन्तर-प्रवाह में इधर-उधर तिरते, शीतल आनन्द के खण्डित छोटे-छोटे कणों का आस्वाद ही चरणानुयोग के नवनीत का स्वाद है।

क्योंकि उन नवनीत के छोटे-छोटे कणों को खाने के लिए उसके साथ ही अनिच्छित रूप में पीयी जाने वाली शुभ परिणामों की खट्टी छाछ को पीते हुए भी न पीनेवत्, कथञ्चित् हेय रूप तीव्र व मन्द विशुद्धि स्थानों अथवा उनके नैमित्तिक भूत शुभकर्म की स्थिति व अनुभागबंध स्थानों से अन्तरंग में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अछूता रहता हुआ केवल उन नवनीत कणों का मधुर आस्वाद ही करणानुयोग के नवनीत का आस्वाद है।

उस खट्टी छाछ के नवनीत मिश्रित कथंचित् अनिष्ट स्वाद के कारण, शुभकर्मों के निमित्त भूत कथंचित् व्याकुलता व दुःख रूप, उदयस्थानों से अछूता रहता हुआ, सहवर्ती निजानन्द रूप निराकुलता का मधुर स्वाद ही करणानुयोग के नवनीत का आस्वाद है।

कथंचित् हेय उस प्रकार के बाह्य परिवर्तन के पुनः पुनः अभ्यासवश उत्कीरित अन्तर संस्कार और उसके नैमित्तिक भूत शुभकर्मों के सत्त्व स्थानों से पृथक्, मिश्रित रूप में पड़ा जो अन्तर प्रवर्तन रूप आत्मसंस्कार उसका मधुर आस्वाद ही करणानुयोग के नवनीत का स्वाद है। और इसी प्रकार हेय जो तीव्र मन्द संक्लेश परिणामों में वर्तन व तद्नैमित्तिक अशुभकर्मों के वन्ध स्थान; उन परिणामों के फल स्वरूप तीव्र व्याकुलता व तद्निमित्तभूत अशुभ कर्मोदय स्थान; और उनमें पुनः पुनः वर्तन से प्रगाढ़ संस्कार व तद्-नैमित्तिक अशुभ सत्कर्म स्थान; इन तीनों को दूर से ही छोड़ता हुआ निजात्म वर्तन से उत्पन्न अवंध, अनुदय व असत्त्व स्थान रूप जो अन्तःतत्व का आस्वाद, वह ही करणानुयोग के नवनीत का स्वाद है।

उपरोक्त प्रकार की प्रवृत्ति से साक्षात् अभ्युदय को प्राप्त हुए जो पुराण पुरुष उनके चरित्रों को जानकर शीघ्र ही उन जैसा बनने की उत्कण्ठा पूर्वक प्रगटा जो उपरोक्त वर्तन उसका मधुर आस्वाद ही प्रथमानुयोग के नवनीत का आस्वाद है।

इस प्रकार षट्द्रव्यात्मक विश्व के ऊपर तिरते निज शुद्धात्मा का भान ही द्रव्यानुयोग का ज्ञान है। अल्पावस्था में राग की भूमिका को उल्लंघन कर निज शक्ति प्रमाण उसकी प्राप्ति के यथार्थ उपाय का भान ही चरणानुयोग का ज्ञान है। प्रत्येक क्षण वर्तने वाले कथंचित् हेय जो तीव्र-मन्द विशुद्ध परिणाम और अत्यन्त हेय जो तीव्र-मन्द संक्लेश परिणाम उनकी यथार्थ परख ही करणानुयोग का ज्ञान है। और पुराण पुरुष किस प्रकार के वर्तन के द्वारा आज सर्वोच्च मान्य हैं। इस वात का यथार्थ ज्ञान ही प्रथमानुयोग का ज्ञान है। उपरोक्त सर्व वातों पर दृढ़ प्रतीति ही उन चारों का श्रद्धान है। और निज-निज भूमिकानुसार अपनी शक्ति को न छिपाते हुए आत्मवर्तन ही उन चारों के अनुकूल अनुष्ठान रूप चारित्र है। इन तीनों की इस प्रकार युगपत् प्राप्ति ही निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिये आत्मसागर ही सरस्वती सागर का रूप है। उसमें तिरता शुद्धात्म तत्व ही सरस्वती सागर का नवनीत है। उसका आस्वाद ही सरस्वती के नवनीत का स्वाद है। इसी कारण से "शुद्धात्मा को जानना ही सकल जिन-शासन को जानना है। उस एक में ही सर्व विस्तार और सर्व विस्तार में वह एक ही किस प्रकार परस्पर गुँथे हुए हैं। इस बात का भान ही तो सरस्वती सागर का नवनीत है। जो केवल अनुभव गोचर है।

अतः हे भव्य ! ऐसा जानकर भी क्यों अनेक पक्षों के प्रपंच में पड़कर, अन्य पक्षों के निराकरण करने में निमग्न हो उससे वंचित रहता है। ये पक्ष इस लोक में अनादि काल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। क्योंकि यह तो लोक का स्वभाव ही है। जिसका अर्हन्त भगवान भी निराकरण न कर सके, उसका निराकरण करने में तू कैसे समर्थ हो सकेगा ?

अतः इस जाति के विकल्प को जड़-मूल से उखाड़ अब निजगृह में प्रवेश कर ! देख ! आचार्यों भगवंतों ने तेरे लिये नवनीत निकाल कर रखा है। थोड़ा भी विलम्ब करेगा तो मर्यादा से च्युत हो जायेगा।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. दिव्य-ध्वनि

दिव्य-ध्वनि जनवरी १९६६

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। उसी नियम के अनुसार जब-जब धर्म, विवेक व न्याय का पतन होता है तब-तब उसके पुनरुद्धार की आवश्यकता प्रतीत होती है। तब-तब ही मानव के हृदय में आसुरी शक्तियों के प्रति युद्ध ठानकर उसे पराजित करने का दृढ़-संकल्प जागृत होता है। तब-तब ही कुछ प्रतिभाशाली महापुरुषों का अवतार होता है, जो सूक्ष्म दृष्टि से उन मानवता विरोधी शक्तियों का अन्वेषण करके उन्हें परास्त करने के उपायों का अनुसंधान करते हैं, तथा जगत के साधारण जनों का लक्ष्य उधर आकर्षित करके उनके हृदयों में क्रान्ति का संचार करते हैं। और इस प्रकार जगतको चंगुल से मुक्त कराकर एक बार पुनः स्वतंत्रता और कल्याण की स्थापना करते हैं। जैसे कि आज के युग में महात्मा गांधी !

उन महापुरुषों में-से कुछ उन विरोधी शक्तियों को बाहर में खोजते हैं, और कुछ अन्तरंग में। बाह्य दृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म अन्वेषक अन्तरंग शक्तियाँ सूक्ष्म हैं तथा चिरकाल स्थाई और इसलिये उनसे प्राप्त मुक्ति भी सूक्ष्म है तथा ध्रुव। बाह्य मुक्ति भौतिक है और अन्तरंग की मुक्ति आध्यात्मिक।

अध्रुव फल की प्राप्ति के प्रति प्रयास करने की बजाय ध्रुव फल की पूर्ति के प्रति प्रयास करना ही बुद्धिमत्ता है। परन्तु ऐसे बुद्धिमान होते हैं अल्प ! भले ही अल्प हों परन्तु उनका प्रयास ही वास्तव में सफल है ! मूल शत्रु को लक्ष्य करने के कारण उनकी दृष्टि ही समीचीन है। तथा जीवन की मूल समस्या को सुलझाने के कारण उनका ज्ञान व अनुसन्धान ही सत्य है।

वह ज्ञान जो विश्व के परिवर्तनशील विचित्र मायामयी प्रपंच की उपेक्षा करके उसमें ओत-प्रोत किसी स्थाई तत्व के दर्शन करता है, वह ज्ञान जो अन्तरंग व बाह्य समस्त जगत में अनुस्यूत किसी अद्वैत सत्य का साक्षात्कार करता है। वह ज्ञान जो एक होते हुये भी अनेकाकार और अनेकाकार होते हुए भी एक है, वह ज्ञान स्वयं, स्वयं में, स्वयं के लिए, स्वयं के द्वारा, स्वयं को ही जानता व देखता हुआ स्वयं में ही लय हो जाता है, ऐसे उस महिमाशाली ज्ञान को हम क्या कहें, कैसे उसकी स्तुति करें ! वही परम ज्योति है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वही परम ब्रह्म है, वही विभु व व्यापक एक अद्वैत तत्व है, वही परमात्मा है, वही परमेश्वर है। उसे पाकर ही जीव समस्त पाप, दुःख व शोक से तर जाता है, उसे पाकर ही मोह लज्जित होकर अपनी सत्ता खो देता है,उसके प्रकट होने पर ही अन्तरंग जगत में प्रतीत समस्त राग-द्वेषात्मक अनन्त द्वन्द्व मदारी की मायावत् असत् बनकर रह जाता है। वह सत् है चित् है और आनन्द है।

केवल अनुभव गम्य व अन्तरंग में प्रकाशमान उस परम तत्व की व्याख्या कैसे की जा सकती है ? केवल उदाहरणों आदि के द्वारा उसके प्रति संकेत मात्र किया जा सकता है। क्योंकि वह वास्तव में वचनातीत एक अनुपम रस है, जो है अत्यन्त मधुर और तृप्तिकर ! कृतकृत्य हो गये वे जिन्होंने उसे चखा और कृतकृत्य हो जायेंगे वे जो इसको एक बार भी प्रेमपूर्वक चख लेंगे।

निर्विकल्प है वह और इसलिए उसका वाचक शब्द भी निर्विकल्प होना चाहिए वह है क वर्ग आदि के विकल्पों व भेदों से अतीत अनक्षरी प्रणव (ओंकार) ! केवल ध्वन्यात्मक, जिसमें सर्व वक्तव्य स्वतः गर्भित है ! जैसे वर्ण विहीन सूर्य के प्रकाश में सर्व वर्ण स्वतः गर्भित हैं और यही कहलाती है भगवान अर्हन्त की दिव्य ध्वनि, जो अनक्षरी होते हुए भी साक्षर है, और साक्षर होते हुए भी निरक्षरी है। जिसमें सारा शब्द ब्रह्म गर्भित है पर जो पूर्ण रूपेण किसी भी एक शब्द में समाविष्ट नहीं है। व्यापक है वह आकाशवत् जो सर्व जड़ व चेतन पदार्थों में प्रविष्ट है, परन्तु जो पूर्णरूपेण किसी एक पदार्थ में समाविष्ट नहीं।

उसी विभु व व्यापक ध्वनि का प्रतिबिम्ब है स्याद्वाद, जो विकल्पात्मक होते हुए भी सर्व संग्रहकारी है। अतः उस ध्वनि का रहस्य जानने के लिए स्याद्वाद का अभ्यास सर्वप्रथम कर्तव्य है। वह कुंजी है उस अत्यन्त गहन व गुप्त रहस्य का उद्घाटन करने के लिए तथा उसके बिना आगमगत भी सर्व-ज्ञान एकान्त होने के कारण कदाचित् अनर्थक्रियाकारी हो जाया करता है। इस लिए जिज्ञासु मुमुक्षु का कर्तव्य है कि जिनवाणी गर्भित शास्त्रों का अभ्यास करने से पहले, अत्यन्त दुर्लभ उस कुंजी को प्राप्त करने के प्रति ही अधिक से अधिक परिश्रम करे, जिससे की शास्त्रों में छिपे अमूल्य रत्नों का वे सदुपयोग कर सकें, दुरुपयोग नहीं।

•

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. अहिंसा वीरों का भूषण है

दिव्य ध्वनि मार्च १९६१.

शांति प्राणीमात्र का स्वभाव है, वही उसका धर्म है। उसका हनन करना हिंसा तथा उसकी रक्षा करना अहिंसा है। इस लिए अहिंसा को परमधर्म कहते हैं। चींटियों की रक्षा करने अथवा छानकर पानी पीने मात्र में अहिंसा समाप्त नहीं हो जाती। अहिंसा का प्रारम्भ चींटियों पर से न होकर अपनी शान्ति की रक्षा पर से होता है। इसको स्व-अहिंसा कहते हैं और इसके फलस्वरूप अन्य प्राणियों की शांति रक्षार्थ जो कुछ भी प्रवृत्ति या निवृत्ति बाह्य में करने में आती है वह पर-अहिंसा है। स्व-अहिंसा शून्य पर-अहिंसा वास्तव में अहिंसा का उपहास है। यही कारण है कि आज की लंगड़ी अहिंसा चींटियों को तो बचाती है पर मानव का रक्त चूपने में तथा राष्ट्र व समाज का रक्त-शोषण करने में किंचित् नहीं हिचकिचाती।

अहिंसा किसलिए :

शांति का उपासक एक सच्चा अहिंसक किसी अन्य की रक्षा इसलिये नहीं करता कि उससे कुछ पुण्य होगा, बल्कि इसलिए करता है कि वैसा करने से उसे शांति मिलती है। दूसरे को बाधा पहुँचाने से उसकी अपनी शांति घाती जाती है, इसलिये वह किसी प्रकार किसी को उसके द्वारा बाधा न पहुँचे ऐसा ही प्रयत्न सदा किया करता है। मन से, वचन से, काय से, स्वयं करके या दूसरे से कराकर या अनुमोदना करके, विचार मात्र से या बाधक सामग्री एकत्रित करके या उस हिंसाजनक व्यापार में स्वयं प्रवृत्ति करके, क्रोध से या मान से या माया से या लोभ से न वह किसी का कोई प्राण घातता है या बाधित करता है, न झूठ या चोरी या कुशील सेवन में प्रवृत्ति करता है और न ही आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है। इस प्रकार अहिंसा का बहुत व्यापक रूप है। लौकिक या अलौकिक कोई भी अन्याय या अनर्थ एक अहिंसक से बनना असम्भव है। इसलिए शांति पक्ष में अहिंसा को इतना स्थान प्राप्त है।

अहिंसा की कक्षायें—शांति के या अहिंसा के उपासक बाह्य परिस्थिति और वातावरणवश दो कोटियों में विभाजित किये जा सकते हैं—एक साधु और दूसरा गृहस्थ। साधु ने गृहस्थ, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र यहाँ तक कि अपना शरीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी एक प्रकार से त्याग दिया है और इसलिए उनके द्वारा उनमें से किसी को भी बाधा पहुँचानी संभव नहीं है। और न ही उनकी रक्षा करना उनका कर्तव्य है, क्योंकि उनमें उनका कोई स्वार्थ शेष नहीं रह गया है। परन्तु गृहस्थ तो कुटुम्ब, समाज व राष्ट्र में रहता है। उनसे वह अपनी रक्षा करवाने की भावना रखता है। उनसे सहायता पाकर ही जीवन शांति पूर्वक निर्वाह करता है। इसलिए इनकी रक्षा करने का भी कर्तव्य उसका अवश्य है। आदान को प्रदान है। यही प्रकृति का नियम है। एक साधु की अहिंसा का बहाना लेकर अपने कर्तव्य से हटना तो मानवता से पीछे हटना है। "व्यापार आदि में हिंसा होती है इसलिए मैं व्यापार नहीं करता। शत्रु का सामना करने में हिंसा होती है इसलिए मैं चोर डाकू के सामने से भाग जाता हूँ या राष्ट्र के रक्षार्थ युद्ध में भाग नहीं लेता।" ऐसा कहने वाला तो कायर है। वह अहिंसक नहीं, हिंसक है क्योंकि इस कर्तव्य विमुखता के कारण स्वयं उसके आदर्श व शांति का हनन होता है। पर-हिंसा के भय से स्व-हिंसा करना अहिंसा नहीं है। गृहस्थ को अपनी अहिंसा साधु पर से नहीं बल्कि अपने वातावरण पर से निर्धारित करनी चाहिए। इसलिए गृहस्थ के लिए केवल संकल्पी हिंसा वर्जित बताई है—उद्योगी, आरम्भी व विरोधी नहीं। अर्थात् जानबूझ कर निष्प्रयोजन या केवल इन्द्रिय-पोषणार्थ वह किसी को कदापि छोटी से छोटी बाधा देने को भी तैयार नहीं। भले उसे ऐसा करने के लिए करोड़ों रुपया क्यों न दिया जाये। परन्तु व्यापारादि करने में अथवा घर का काम या सफाई करने में या बाह्य शत्रुओं के प्रति अवसर आने पर युद्धादि करने में जो हीनाधिक छोटे या बड़े जीवों की हिंसा होना संभव है, उसका उसे त्याग नहीं होता। उसका भी त्याग करे तो गृहस्थ के रूप में जीवन नहीं चल सकता तब तो उसे साधु होना पड़ेगा। इसका यह भी अर्थ नहीं कि ये हिंसायें करने में वह सर्वथा निरर्गल प्रवृत्ति करता है। इनमें वह बराबर यत्न करता है कि यदि ये हिंसायें हों ही तो कम से कम हों। उन क्रियाओं में भी बराबर उसका प्रयत्न तो रक्षा करने का ही रहता है। इतना प्रयत्न रखते हुए भी जो छोटे या बड़े जीवों की हिंसा हो जाती हैं उसके प्रति वह सदा निन्दन व गर्हण करता रहता है।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि "उद्योगी व आरम्भी हिंसा के प्रति तो यत्नाचार रखना संभव है। परन्तु विरोधी हिंसा के प्रति यत्नाचार कैसे रखे? उसका यत्नाचार तो यही है कि शत्रु के सामने हथियार न उठाये, आत्म समर्पण कर दे या उसके सामने से भाग जाये।" भैया! ऐसा नहीं है। यह तो कायरता है। अहिंसा कायरों का नहीं वीरों का धर्म है। अहिंसक का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हृदय उदार तो होता है पर निर्भय भी होता है। अहिंसक जीते जी शत्रु से हार मानना नहीं जानता। भारत के ह्रास का कारण वास्तव में अहिंसा नहीं हिंसा है।

वीर ही अहिंसक होता है—गृहस्थ के कुटुम्ब पर या सम्पत्ति पर या देश पर कोई आक्रमण करे तो गृहस्थी अहिंसक का कर्तव्य है, अपनी व अन्य की, देश की रक्षार्थ बाजी लगा दे अपनी जान की। भले शत्रु प्रबल हो पर भिड़ जावे उससे अहिंसक को अपमान के जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक प्रिय है। मृत्यु उसके लिए खेल है बच्चों का। जैसे कि एक खिलौना लिया और टूट जाने पर दूसरा ले लिया। "किस काम आयेगा फिर यह चमड़े का शरीर जो आज मेरे सम्मान की रक्षा में भी इससे कोई सहायता न मिले। इतने दिनों से बराबर पोषता चला आया हूँ, आज अवसर आया है इसकी परीक्षा का, मेरी सेवा का मूल्य चुकाने का, और यदि आज इसने कृतघ्नता दिखाई तो फिर यह मेरा कैसा ? मित्र से उसी समय तक प्रेम होता है जब तक कि उसकी कृतघ्नता प्रकट नहीं होती ! या तो आज इसे सहर्ष अपना कर्तव्य निभाकर अपनी कृतज्ञता का परिचय देना होगा या मेरे द्वारा इसे दण्ड भोगना होगा। दोनों दशाओं में इसे क्षति ही उठानी होगी, दोनों ही दशाओं में इसे मृत्यु का आलिंगन करना होगा। परन्तु एक दशा में होगी वीरों की मृत्यु। बता कौन सी मृत्यु स्वीकार है तुझे ? सोचने का अवकाश नहीं, शत्रु सामने खड़ा है।

ये होती हैं कुछ विचारधारायें जो एक सच्चे अहिंसक के हृदय में ऐसे अवसरों पर उत्पन्न हुआ करती हैं। क्योंकि इस बात का दृढ़ विश्वास होता है उसे प्रत्यक्षवत् कि वह अबाधित व अध्यात्मचिदानन्द भगवान आत्मा है। और शरीर उसका सेवक, उसकी शक्ति की रक्षा के लिए। इसलिए वह बिल्कुल निर्भय होता है। शरीर चला जायेगा तो और मिल जायेगा। पर सम्मान चला जायेगा, धर्म चला जायेगा तो फिर न मिलेगा। तो मेरे अन्तरंग की सम्पत्ति ही लुट जायेगी ! नहीं, नहीं यह सब कुछ उसे असह्य है। वह अपना सर्वस्व बलिदान कर सकता है एक शांति की रक्षा के लिए, सम्मान की रक्षा के लिए, कुत्तोंवत् दूसरों के आश्रय पर जीना उसे स्वीकार नही। और यह था भारत के वीरों का आदर्श। एक अहिंसक का हृदय जो अन्य अवसरों पर मौन होता है ऐसे अवसरों पर पाषाण से भी अधिक कठोर हो जाता है। दूसरों के तनिक से कष्ट पर जो रो उठता है, ऐसे अवसरों पर सिंहवृत्ति धारण कर लेता है। जो अहिंसक अन्य अवसरों पर चींटी पर भी दया करता है, ऐसे अवसरों पर अत्यन्त क्रूर हो जाता है, शत्रु से युद्ध करना उसका सौभाग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसक और अहिंसक की भावना :

बात कुछ अटपटी सी है। अहिंसा और रक्त प्रवाह। दो विरोधी बातें कैसी ? परन्तु ऐसी बात नहीं है। सुन भाई ! बताता हूँ—क्रियाओं में अवश्य विरोध दीख रहा है, पर अभिप्राय में विरोध नहीं है। हिंसक भी शत्रु से युद्ध करता है और अहिंसक भी। दोनों के द्वारा ही युद्ध में संहार है। परन्तु फिर भी हिंसक क्रूर और अहिंसक दयावान बना रहता है। इसकी परीक्षा बाह्य की क्रिया पर से नहीं हो सकती, अन्दर का अभिप्राय पढ़ना होगा। दोनों के आन्तरिक अभिप्राय में महान् अन्तर है।

हिंसक के अन्दर है आक्रमण और द्वेष और अहिंसक के अन्दर है रक्षा व कर्तव्य। हिंसक को होता है इस नरसंहार पर हर्ष और अहिंसक को होता है पश्चाताप, इसलिये हिंसक न्याय-अन्याय के विवेक से शून्य होकर प्रहार करता है—हथियार रहित पर भी, सोते हुए पर भी, स्त्री, बच्चे व बूढ़े पर भी व रोगी पर भी, और दूसरी ओर अहिंसक का हृदय ऐसे विचार मात्र से कांप उठता है। उसे मृत्यु व हार की चिन्ता नहीं। किसी मूल्य पर भी विवेक बेचने को वह तैयार नहीं। हिंसक करता है अपनी ओर से पहल दूसरे के घर या देश पर जाकर, और अहिंसक करता है सामना अपने घर या देश पर आये हुए का। हिंसक घायल व अपाहिज पशुओं पर करता है अट्टहास और अहिंसक करता है उनसे मित्रवत् प्रेम। उसका युद्ध करना केवल रक्षा के अभिप्राय से था और इसलिये रक्षा हो जाने पर वह शत्रु आता है उसकी दृष्टि में एक सामान्य दुःखी जीववत्। जिसका हृदय स्वयं दुःखी है अपनी हार पर, और इसीलिये वही करुणा वही प्रेम। शान्त सम्भाषणों के द्वारा वह प्रयत्न करता है उसे सान्त्वना देने का। युद्ध के पश्चात् वह करता है घायलों की सेवा और हिंसक मारता है ठोकरें। हिंसक के हृदय में है बदले की भावना और अहिंसक के हृदय में है क्षमा। अभिप्राय के इस महान् अन्तर के कारण एक हिंसक है और दूसरा अहिंसक। इसलिये बाह्य में हिंसा करता हुआ भी वह अन्तरंग में हिंसा कर नहीं पाता। यह है अहिंसा के आदर्श में लौकिक वीरता।

अहिंसा में अलौकिक वीरत्व भी है, पर उसकी प्रधानता साधु के जीवन में है। जिसके शत्रु बाहर के पशु व मनुष्यादि नहीं हैं बल्कि अन्तरंग के मानसिक विकार हैं, जिनके साथ वह हर समय युद्ध करता रहता है। जहां वे जागृत हुए कि टूट पड़ता है उन पर, वैराग्य की बारह भावनाओं को लेकर अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्व शक्ति और साहस के साथ। जिस अन्तरंग विकारों को जीतने में कोई समर्थ नहीं उनको वे योगी ही जीतते हैं। अर्थात् अपनी शक्ति में विघ्न आने नहीं देते। यह है उन अलौकिक वीरों की अहिंसा।

इस प्रकार लौकिक व अलौकिक दोनों दृष्टियों से अहिंसा वीरों का भूषण है। इसमें कायरता व कर्तव्यहीनता को अवकाश नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११. अध्यात्म का प्रयोजन त्याग

सन्मति संदेश ११ अक्टूबर १९६२

अहा हा ! अध्यात्म की रसिकता, इसका स्वाद। इसका प्रकाश। अद्वितीय है यह, अनुपम है यह। इसमें है जीवन का रस। जीवन का माधुर्य। इसमें है जीवन का प्रकाश अत्यन्त तेजवन्त। इसमें है जीवन का गुरुत्व, अत्यन्त महिमावन्त। इसमें है जीवन का रहस्य, अत्यन्त सारपूर्ण। इसमें है जीवन का जीवन-तत्व। जीवन की वास्तविकता। अत्यन्त सरल व अत्यन्त स्वच्छ। कहाँ तक कहें ? एक ओर तो तुच्छ बुद्धि वाले प्राणी की सामर्थ्य और दूसरी ओर इस अद्वितीय तेज की निस्सीम महिमा, निस्सीम गुरुता। परन्तु जाना जा सकता है इसे, साक्षात्कार किया जा सकता है इसका, सब कोई नहीं बिरला व्यक्ति ही कोई इस योग्य हो पाता है, वह जिसका कि सौभाग्य जागृत हो गया हो। लौकिक प्राणी बेचारे क्या जाने इसका मूल्य ? रत्न की परख जौहरी ही जानता है। सान पर चढ़ने के पहले जो सर्वसाधारण के लिये एक पत्थर के टुकड़े के अतिरिक्त कुछ नहीं वही एक जौहरी के लिये लाखों का मूल्य रखता है। बाहर से सुन्दर दिखाई दे, लौकिक दृष्टि में उसी का कुछ मूल्य है। उसके अन्दर भी कुछ छिपा है यह कौन जाने। सान पर चढ़ने के पश्चात् जो चमक उसमें उत्पन्न होती है वह कहाँ से आई ? उसके अन्दर ही छिपी थी। छिपी हुई है, उसको देखे वही बुद्धिमान है। प्रकट होने पर जाना तो क्या जाना ? बुद्धिमान तो वह है जो पहले से ही अपने हृदय में या एक साधक के हृदय में छिपी हुई उस कणिका को देखकर उसमें भगवान् के दर्शन करे, उसकी महिमा का भाव करे।

अध्यात्म का विषय बातें करने मात्र या चर्चा करने मात्र के लिये नहीं है। इस प्रकार की शुष्क बातें व चर्चायें तो जीवन में अभिमान उत्पन्न कर देती हैं, जो जीवनोत्थान की बजाय उसके पतन का कारण होती हैं। और ऐसा ही देखा जा रहा है। प्रभो ! आजकल, अव्वल तो अध्यात्म का शाब्दिक परिचय ही इस काल में अत्यन्त दुर्लभ है और यदि सौभाग्यवश वह प्राप्त भी हो गया तो अब उसे सार्थक बना ले। अरे ! अरे ! जीवन चला जा रहा है, बड़े वेग के साथ। प्रतिक्षण प्रवाहित क्या वह तुझे दिखाई नहीं दे रहा है ? भैया ! इस अभिमान को धिक्कार है। अनादि काल से इसे ही पुष्ट किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब भी इसी में अपनी महत्ता गिनता है। केवल उसकी दिशा बदली है, परन्तु मूल संस्कार न बदला। बदले भी कैसे ? उसका बदलना अच्छा ही कब लगता है तुझे ? तुझे तो इसमें जीवन दिखाई देता है कि शिष्य मण्डली बढ़ गयी, दिशाओं में सर्वत्र प्रशंसा के शब्द सुनाई देने लगे। बस हो गया। इतना ही तो प्रयोजन था इस ज्ञान का ? वह प्राप्त हो गया। तू सन्तुष्ट है ? इसके आगे अब करना शेष ही क्या रहा ? मानो यही है अध्यात्म ज्ञान का सार, उसका सफल प्रयोजन।

भैया ! मेरी समझ में तो यह प्रपंच के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तू बुरे चक्कर में पड़ गया है। तुझे खुद खबर नहीं कि तू जकड़ा जा चुका है। बाह्य की कोई वस्तु किसी को जकड़ नहीं सकती। व्यक्ति विशेष की भावनायें ही उसे जकड़े हैं। कषाय मन्द पड़े तो वह दिखाई दे। अन्यथा तो ऐसा प्रतीत होता रहता है कि मेरी भावनायें तो ठीक ही हैं। कषाय को कषाय ही कौन कहे। यदि उसके उदय में भी प्राणी को अपना वास्तविक हित दिखाई देने लगे। क्रोध के आवेश में यह पता नहीं लगता कि मैंने जो कुछ भी बोला है वह अत्यन्त कटु व घातक है। तब तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि ठीक तो कह रहा हूँ। जैसे किसी धार्मिक उत्सव पर बच्चों को शोर मचाते देखकर यद्यपि क्रोध भरे शब्दों में उन्हें मना किया जाता है, परन्तु स्वयंको यह स्वीकार नहीं होने पाता कि मैं कुछ कटु बोल रहा हूँ। उस समय तो ऐसा लगता है मानो मैं धर्मानुकूल ही कुछ कार्य कर रहा हूँ। यह बात तब प्रतीत में आती है जबकि वह क्रोध कुछ शांत हो जाये और तब अपने पूर्व कृत्य के संबंध में विचार करे और उस समय पश्चाताप होने लगता है। बस इसी अभिमान शिखर पर बैठे तुझे यह पता चले कि अध्यात्म ज्ञान से तेरे जीवन में लाभ हो रहा है या हानि। इस समय तो यह अभिमान ही लोभ के रूप में अपना प्रदर्शन कर रहा है।

भाई इस अवसर की दुर्लभता को विचारकर तनिक सरलता का आश्रय ले, और देख तेरी प्रवृत्ति भी क्या अध्यात्म के अनुकूल है। अध्यात्म का सार तो वैराग्य है, उदासीनता है, एकान्तवास है, लौकिक संसर्गों से पृथकता है. परन्तु मेरी प्रवृत्ति तो इन सबसे उल्टी है। अधिकाधिक ख्याति की चाह में वैराग्य बेचारे को कौन पूछे ? मर्जी है तेरी, जीवन चला जायेगा फिर यह अवसर हाथ न आवेगा। अन्तिम समय में हाथ मलने पडेंगे। शक्ति को छिपाना योग्य नहीं। अध्यात्म के प्रकाश में जीवन को पढ़ने का अभ्यास कर। सूक्ष्म दोष को भी देखकर उसे तोड़ने का प्रयास कर।

मैं चेतन हूँ, शरीरादि से नहीं बल्कि रागादि से भी पृथक् हूँ। बाह्य में कुछ करना धरना चेतन का काम नहीं है। सर्व पदार्थ अपनी-अपनी शक्ति से ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। सब स्वतंत्र हैं। यहां कुछ भी मेरा नहीं है, इस प्रकार की बातें करने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि इन बातों के रहस्य को तू स्पर्श कर पाया है। यह बात तो तभी जानी जा सकती है जब कि इन सब बातों को अपनी २४ घंटों की विचारणाओं में अवकाश देकर जीवन की कालिमाओं को धोने का प्रयत्न करे और वास्तव में करेगा तो उसके कुछ लक्षण वाहर में भी प्रकट हुए बिना न रह सकेंगे। उन लक्षणों का ही चरणानुयोग में प्रमुखेन वर्णन किया गया है।

"मैं अभी कमजोर हूँ, न्याय करने योग्य नहीं हूँ। काल लब्धि आने पर स्वयं हो जायेगा," इत्यादि बातें तो अपनी शक्ति छिपाने के लिये हैं। यह कायरता है। वीतरागियों का मार्ग तो वीरों का मार्ग है। आध्यात्मिक शक्तिको तो भय नहीं होना चाहिये। आ, आगे बढ़, भले धीरे-धीरे सही। सबकी शक्ति बराबर नहीं होती। परन्तु फिर भी कुछ तो शक्ति है ही। शक्ति जन्म के साथ ही आया करती हो ऐसा भी कोई नियम नही है। साधना विशेष के द्वारा उसे प्रकट भी किया जा सकता है और बढ़ाया भी जा सकता है, प्रयत्न करना कर्तव्य है। प्रमाद तज, विश्वास कर, आगे बढ़. शक्ति को बढ़ा और इस जीवन में अधिक से अधिक ऊंची भूमियों में प्रवेश पाकर इसे सफल कर। अन्यथा अध्यात्म का प्रलाप मात्र करते-करते जीवन वीत जायेगा। आगे क्या होगा, प्रभु ही ठीक जानते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. परिणामों की सुरक्षा

सन्मति संदेश जुलाई १९५७.

इस शरीर को बर्तने वाले भो आत्मन् ! अनादिकाल से आज तक तो तुझको निज परिणामों की पहचान भी प्रगट नहीं हुई थी। तब उनकी सम्भाल ही कैसे कर सकता। परन्तु आज तो परम गुरुओं के प्रसाद से क्षण क्षण में वर्तने वाले उन परिणामों का भान हो जाने के कारण उनमें शुभ-अशुभ तथा शुद्धपने की पहचान उत्पन्न हुई है। फिर भी अहित रूप इन शुभाशुभ परिणामों के त्याग मात्र से शुद्ध परिणाम में स्थिति नहीं होती। यह कोई शक्ति की हीनता की गहन महिमा है।

देखो परिणामों की विचित्रता, एक क्षण में तो स्वसंवित्ति से उत्पन्न अनुपम आनन्द के रसास्वाद से पूर्णावस्था, तब आ हा हा ! वह स्वयं नाच आते हैं, और दूसरे क्षण में ? अकस्मात् पाई चिन्तामणि के छिन जाने पर प्रगटी निराशावश पुनः वही फीका रूप धारण करते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उनकी यथार्थ रीति से संभाल न की जाये तो क्या हो ? क्या वताने की आवश्यकता नहीं।

परिणामों के निस्तेज हो जाने से व्याकुल होकर यदि उस पूर्व के रसास्वाद की याद भी भुला दे तो पुनः वे परिणाम आने ही असम्भव हो जायें। परन्तु उसकी याद को शाश्वत रखे, और निस्तेज से निराश न होकर बराबर उसी परिणाम को जिस किसी प्रकार भी, लौटाने के प्रति उद्यमशील बना रहा तो अवश्य ही पुनः वही भान प्राप्त कर फिर एक क्षण को कृतकृत्य ए बिना न रहे !

स्कूल में रस्सा खेंचने का खेल-खेलते हुए जब कभी मैं और मेरे साथी विपक्ष द्वारा अपने को खिचता देखते तो, अभीष्ट न होते हुए भी एक साथ रस्सा थामकर धरती पर बैठ जाते थे और अवकाश पाकर थोड़ी देर पीछे ही पूरे बल से विपक्ष को अपनी ओर खेंचने में सफल हो जाया करते थे। उसी प्रकार जब-जब अपने परिणामों को अशुभ प्रवृत्ति की ओर खिचता देखे तब तब ही अभीष्ट न होते हुए सम्पूर्ण पुरुषार्थ को एकत्रित कर, वीतराग देव तथा गुरु के उज्ज्वल आदर्श के स्मरण स्तवन तथा उनके कल्याणकारी वचनों रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभ भूमि पर पैर जमाकर बैठ जाना अर्थात् प्रयोजनवश थोड़ी देर के लिए उनका आश्रय ले लेना उस समय योग्य है। और पीछे अवकाश पाकर अशुभ प्रवृत्ति को किंचित् लुप्त देख, निज परिणामों को पुनः उस अभीष्ट रसा-स्वाद के पात्र में युक्त करे तो शुभाशुभ दोनों का परिहार करने में सफल हो जाये।

यदि विवेक बुद्धि रहित हो रस्सा पकड़कर बैठे ही रहते और अवकाश पाकर भी विपक्ष को अपनी ओर खींचने के प्रति बल धारण न करते तो अवश्यमेव बैठे हुए भी उत्तर क्षण में विपक्ष के द्वारा खेंच लिये जाते। इसी प्रकार विवेक विहीन हो शुभ प्रवृत्ति में ही इष्टता मान यदि उसमें ही संतुष्ट हो जाये तो अवश्यमेव शुभोपयोगयुक्त भी तू उत्तर क्षण में अशुभ के द्वारा खींच लिया जायेगा!

अतः अशुभ से बचने को भले थोड़ी देर को शुभ प्रवृत्ति में उलझा हो, परन्तु उस समय भी उत्तरक्षण में होने वाली शुद्धता के प्रति प्रयास को लक्ष्य में रखते हुए पुनः पुनः उसी परमानन्द रूप एक शुद्ध परिणाम में स्थित होने के प्रति प्रत्येक क्षण जाग्रत रहना ही तेरा कर्तव्य है, और यही है परिणामों की सुरक्षा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३. वस्तु स्वतन्त्रता

सन्मति संदेश सितम्बर १९५७.

मेरेपने से प्रख्यात इस पौद्‌गलिक शरीर में वर्तने वाली भो आत्मा ! तू व्याकुल क्यों होता है ? तू तो स्वतन्त्र रूप से निज अचलित सहजगुण वैभव को भोगने वाला परिपूर्ण सच्चिदानन्द ईश्वर है। विश्व के सम्पूर्णचेतन और अचेतन अनन्तानन्त द्रव्य भी तेरी ही तरह पूर्ण स्वतन्त्र हैं और प्रतिक्षण स्वतन्त्र पने से अपना-अपना कार्य करने तथा अपने-अपने वैभव को भोगने वाले ज्ञानेश्वर अथवा जड़ेश्वर हैं। किसी अपेक्षा भी देखें परन्तु किसी की भी स्वतन्त्रता किंचित् मात्र भी बाधित नहीं होती।

१. द्रव्य के सत् लक्षण को लेकर देखें तो किसी अन्य की प्रतीक्षा किये बिना उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप निज लक्षणात्मक स्वरूपास्तित्व में स्थित नित्य निरन्तर ही स्वतन्त्रपने से उत्पत्ति तथा विनाश पाता, समय-समयवर्ती पर्याय रूप निज-कार्य में परिणामशील रहने के कारण यह तू पूर्ण स्वतन्त्र है।

२. वस्तुपने के दो-दो विरोधी शक्तियों के प्रकाशन स्वरूप अनेकान्त धर्मत्व को टटोलें तो, स्वद्रव्य अर्थात् निज स्वरूप अस्तित्व में टिके रहने से ही तेरा अस्तित्व है, स्व-असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र में रहने से ही तेरा अस्तित्व है, स्वकाल रूप समय-समयवर्ती निज व्यतिरेकी पर्यायों का कार्य नित्य निरन्तर करते रहने से ही तेरा अस्तित्व है, और स्वभाव अर्थात् निजसहज आदि ज्ञानादि चतुष्टय को नित्य भोगते रहने से तेरा अस्तित्व है।

द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्म के स्वरूप अस्तित्व के कारण तेरा अस्तित्व नहीं है। कर्म व नोकर्म आदि के क्षेत्र अर्थात् आकार से तेरा आकार नहीं है। इनके स्वकाल अर्थात् इनके कार्य या सहायक कारणादि रूप षटकारकों से तेरा अथवा तेरे कार्य का अस्तित्व नहीं है। इनके भाव अथवा कर्मपने या नोकर्मपने के कारण तेरा भाव अर्थात् वैभव का भोग नहीं है। कर्ता कर्म करणादि षट्-कारकों में तथा कार्य-कारण या भोक्ता-भोग्य आदि विकल्पों में स्वतन्त्र रूप से निज अभेद सहज अस्तित्व को नित्य निरन्तर टिकाये रखने के कारण यह तू पूर्ण स्वतन्त्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. केवलज्ञान या इस ज्ञान में प्रतिबिम्बित त्रिकालवर्ती ज्ञेयाकारों के निमित्तभूत ज्ञेयरूप पर दृष्टिपात करने से भी अपने ही निश्चित समयों में, अपने ही स्वतन्त्र स्वकाल को लिये, स्वयं आकार प्राप्त हुए निश्चित् अनेक द्रव्यों के सान्निध्य में अपने निश्चित पर्याय या कार्य को नित्य निरन्तर करते रहने का स्वभाव धारण किये यह तू पूर्ण स्वतन्त्र है।

४. अकार्य-कारण शक्ति तथा अकर्तृत्व शक्ति के विचार से भी किसी भी अन्य का कर्ता, कार्य या कारण बने बिना तथा निजकार्य में परके कर्ता कार्य कारणादि की अपेक्षा रखे बिना ज्ञानात्मक निजभाव का कर्ता, कार्य या कारणादि रूप स्वयं ही नित्य निरन्तर बने रहने के कारण यह तू पूर्ण स्वतन्त्र है। इसी प्रकार अन्य भी किसी दृष्टिकोण से तेरी या किसी भी द्रव्य की किंचित्मात्र भी परतन्त्रता नहीं भासती है।

फिर भी "मेरा यह कार्य अन्य निमित्तों की अपेक्षा रखता है" अर्थात् यदि यह न हों तो तेरा कार्य अर्थात् परिभ्रमण ही रुक जाये. ऐसी कर्ता बुद्धि पूर्वक निज स्वतन्त्रता से अपरिचित रहा, अन्यों की शोध में अनादि काल से व्यग्र हुआ, नित्य निरन्तर ही निज अचलित सहज वैभव के भोग में असमर्थ हुआ क्यों व्याकुल बना हुआ है। अब काललब्धिवश सरस्वती का अकम्प प्रकाश मान करके भी यदि इन कर्म-नोकर्मादि निमित्तों के ढेर में खोई हुई इस निज-निधि को ढूंढ़ कर उसे न भोगे तो फिर कब भोगेगा। उठ देख यह तेरी अन्तर की स्वतन्त्रता से फूटा हुआ आनन्द का पूर कितना मधुर है। एक अंजलि मात्र भी इसके पान से तू कृतकृत्य हुए बिना न रह सकेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४. आन्तरिक स्वास्थ्य

सन्मति संदेश जून १९५७.

अहो ! ज्ञानीजनों की अपूर्व वाणी कभी सुनने में नहीं आयी, ऐसा इस भगवान आत्मा का वास्तविक स्वास्थ्य गुरुजनों की इस वाणी को सुने बिना कौन इसे समझाने को समर्थ है। स्वास्थ्य और स्वार्थ दोनों के बीच कितना सुन्दर मिलाप ? लौकिक जन हों या कोई भाग्यशाली, यथार्थ दृष्टि से दोनों के लिए स्वास्थ्य ही तो स्वार्थ है। परन्तु अन्तर है दोनों की दृष्टि में। शारीरिक स्वास्थ्य के पीछे क्षणिक भोगों की तृष्णा से तप्तायमान कोई अपने को स्वस्थ भले समझे, परन्तु क्षयरोग ग्रस्त है, महादुःखी है। शारीरिक स्वास्थ्य तो जड़ का स्वास्थ्य है, तेरा नहीं। तेरा स्वास्थ्य तो आन्तरिक स्वास्थ्य है।

१. शारीरिक स्वास्थ्य से आत्महित नहीं - बाह्य वस्तुओं को किसी भी प्रकार अन्य से लेकर उन पर अपना आधिपत्य जमाने की भावना तो लौकिक स्वार्थ है। परन्तु यहाँ तो इस स्वार्थ की बात नहीं। यहाँ तो बात है अलौकिक स्वार्थ की अर्थात् निज उपयोग को अन्य ज्ञेयों पर से हटाकर उसको निज पर केन्द्रित करने की भावना की। पहला स्वार्थ तो घृणित है, त्याज्य है परन्तु दूसरा सुन्दर है, कर्तव्य है। इसी में छिपा है जीव का वास्तविक आनन्द शान्त-रस से भरा एक सागर परम स्वास्थ्य।

वह अनन्त अक्षयगुण निधि से परिपूर्ण स्वास्थ्य जो केवल स्वसंवेद्य है, पूर्ण सुरक्षित तथा गुप्त है, अविनाशी है, स्वतः सिद्ध अनादि अनन्त अचल है। अतः सर्वभयों की शंका से रहित ज्ञानी, अन्य वस्तु धर्मों की आकांक्षा जुगुप्सा तथा ममत्व को दूर से ही छोड़ता निजज्ञान को निज में स्थित करता, आत्म-शक्ति की वृद्धि में सदा तत्पर निज स्वास्थ्य के प्रति वात्सल्य युक्त हो, ज्ञान रथ में आरूढ़ टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव का ही वेदन करता परमानन्द को तत्क्षण प्राप्त होता है।

इस दिव्य वाणी को सुनकर हर्ष से गद्‌गद हो गया है हृदय जिसका ऐसा कोई पुरुष यदि इस वाणी के वक्ता गुरुजनों की सेवा-भक्ति करने मात्र से रोग शान्ति की सम्भावना समझे तो यह संभव नहीं, उसी प्रकार उस पुरुष को भी पराश्रय के कारण उत्पन्न हुई अस्वस्थता से मुक्ति मिलना असंभव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. ज्ञायक भाव का वेदन ही आत्मस्वास्थ्य है—जैसे वैद्य के बताये अनुसार औषधि का प्रयोग ही एक मात्र रोग शान्ति का उपाय है वैसे ही गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट उपरोक्त एक ज्ञायक भाव का वेदन करना ही स्वास्थ्य प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। जैसे रोग शांति का उपाय दर्शाने वाले वैद्य के प्रति कृतज्ञता का भाव रोगी के अन्तर में होते हुए भी वह इसमें सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि औषधि का सेवन करता है, वैसे ही स्वास्थ्य प्राप्ति का मार्ग दर्शाने वाले देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति-भाव ज्ञानी के अन्तर में होते हुए भी वह इसमें सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि ज्ञायक भाव के वेदन करने के प्रति सदा उत्सुक रहता है।

रोग की आंशिका शांति से उत्पन्न हुआ विश्वास जिस प्रकार कृतज्ञतावश रोगी को वैद्य की प्रशंसा रूप व्यवहार करने को बाध्य करता है उसी प्रकार आंशिक स्वास्थ्य लाभ से उत्पन्न हुआ विश्वास अल्पावस्था में ज्ञानी को देव गुरु-शास्त्र की पूजा भक्ति आदि व्यवहार क्रियायें करने को बाध्य करता है।

३. निश्चय और व्यवहार का समन्वय—परन्तु जिस प्रकार वही रोगी उस प्रकार का व्यवहार करता हुआ भी उस व्यवहार की सिद्धि में अकार्यकारी समझता है, उसी प्रकार ज्ञानी व्यवहार धर्म को पालता हुआ भी उस व्यवहार को निज कार्य की सिद्धि के लिए अकार्यकारी समझता है।

जिस प्रकार वैद्य की प्रशंसा का व्यवहार रोगी के शरीर में आंशिक अल्प रोग की उपस्थिति को दर्शाता है रोगी भाव को नहीं, वैसे ही व्यवहार क्रियायें ज्ञानी के स्वास्थ्य में त्रुटि को दर्शाती हैं पूर्णता को नहीं, जिस प्रकार औषधि का प्रयोग किये बिना ही आंशिक भी स्वास्थ्य लाभ के अभाव में की जाने वाली वैद्य की प्रशंसा यथार्थ नहीं, दिखावे मात्र की है उसी प्रकार स्वसंवेदन रूप निश्चय-मार्ग के बिना ही आंशिक भी आत्मलाभ के अभाव में की जाने वाली सर्व व्यवहार क्रियायें अयथार्थ हैं। दिखावा हैं।

यही है निश्चय-व्यवहार का समन्वय। ज्ञानी को ये दोनों ही उपादेय तथा हेय रूप में युगपत् होते हैं, परन्तु निश्चय से अनभिज्ञ अज्ञानी को उपादेय रूप से एकान्त व्यवहार होते हुए भी इन दोनों में से एक भी नहीं होता। ऐसा ही कोई रहस्य है केवल जो स्व-संवेदन के द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है, अन्यथा नहीं। स्वस्थ प्राणी ही उसे जान सकता है, अस्वस्थ नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५. स्वानुभवकी पुकार

सन्मति संदेश जुलाई १९५८.

"तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्केज्ज छलंण घेत्तव्वं।५।"

अरहन्त भगवान तथा श्रुत केवलियों ने भी आत्मा का वही रूप देखा है जो मुझको दिखाई दिया है। यह तत्त्व मेरे लिए अब इसलिए सत्य नहीं है कि इसे श्रुत केवलियों ने कहा है, बल्कि इसलिए सत्य है कि मैंने इसे वैसा ही देखा है। "अतः यही शुद्धात्मा का स्वरूप है या कुछ और" ऐसी शंका का अब स्थान ही नहीं रहा।

अहो ! आचार्य भगवन्तों की अपूर्व वाणी, कितनी दृढ़ता है समयसार की इस पाँचवीं गाथा में। "उस एकत्व विभक्त आत्मा को मैं अपने सर्व वैभव से दर्शाता हूँ।" पहली गाथा में कहा था कि श्रुत केवलियों द्वारा कथित आत्मा को कहता हूँ। अर्थात् श्रुतकेवली कथित आगम पर मात्र अन्धश्रद्धान करके नहीं कहता, अपितु उस ही आगमार्थ को युक्ति की कसौटी पर कसते-कसते, स्व-संवेदन से उस आत्मा का जो निर्णयात्मक साक्षात्कार हुआ है, ऐसे उस निज वैभव से दर्शाता हूँ।

"निज वैभव को दर्शाता हूँ" इन शब्दों में एक अनोखी झंकार है "जिसको स्व-संवेदन पूर्वक निज वैभव नहीं हुआ है, वह तीन काल में भी इसका स्वरूप दर्शा नहीं सकता" ऐसी पुकार पड़ी है इस वाक्य में। "मुझको निज वैभव प्रकट हुआ। मैं अब निश्चय से सम्यक्दृष्टि हूँ। इस अपने सम्यग्दर्शन के संबन्ध में मुझे भगवान से या किसी अवधि ज्ञानी से पूछने की आवश्यकता नहीं। जो आनन्द इस संवेदन से मुझे झरता है, उसी जाति का आनन्द सर्व सिद्ध भगवन्तों को है। अब मुझको भव की आशंका नहीं" ऐसी पुकार है इस वाक्य में। यही है सम्यग्दृष्टि की पहचान, उसका निःशंकित गुण। आचार्य ने इस वाक्य में वक्ता का स्वरूप दर्शाया है।

"यह जो शुद्धात्मा का स्वरूप दर्शाने लगा हूँ उसे प्रमाण करना।" परन्तु प्रमाण करना कैसे ? लौकिक रीति से नहीं, मेरे वचनों पर अन्धश्रद्धान करके नहीं बल्कि अलौकिक रीति से स्व-संवेदन के द्वारा प्रमाण करना। ऐसा कह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर श्रोता का लक्षण बताया गया है तथा बताया है - आगम-परीक्षा का उपाय । "जब तक समस्त श्रुत का पाठी भी निरक्षर ही है, तथा जिसे स्व-संवेदन हो गया, वह श्रुत का एक अक्षर भी न जाने तो भी श्रुतकेवलि है।" ऐसी पुकार है इस वाक्य में।

शंका - क्षायोपशमिक ज्ञानियों के द्वारा तत्त्व के दर्शनों में कुछ भूल होना तो संभव है ?

समाधान — हाँ अवश्य संभव है, परन्तु द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग के विषय स्वरूप प्रयोजनभूत तथा अनुभवद्वारा प्रत्यक्ष किये जाने योग्य सात तत्त्वों में नहीं, बल्कि अप्रयोजनभूतपद, मात्रा, अलंकारादि व्याकरण संबन्धी विषय में, प्रथमानुयोग के विषयभूत राम, रावण, लंकादि दूरस्थ पदार्थों में तथा करणानुयोग के विषयभूत द्वीप-समुद्रादि अन्तरित अथवा परमाणु व कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म पदार्थों में।

इसलिये गाथा के अन्त में कुन्दकुन्द प्रभु अपनी क्षयोपशमता का दोष दर्शाते हुएकहते हैं कि यदि इन अत्यन्त परोक्ष, सूक्ष्म, दूरस्थ व अन्तरित पदार्थों संबन्धी अथवा व्याकरण संबन्धी कोई चूक हुई हो, तो ज्ञानीजन उसे सुधार लें। परन्तु छल ग्रहण न करें, क्योंकि मेरे द्वारा दर्शाया हुआ यह आन्तरिक प्रत्यक्ष भाव अत्यन्त निर्मल तथा निर्दोष है। वह अवश्य ही प्रमाण है। इसलिये तुम भी इसे प्रमाण ही करना। इन उपरोक्त परोक्ष बातों संबन्धी किंचित् दोष देखकर उसे छोड़ न देना, इस वाक्य में है संसार पतित जीवों के प्रति करुणा की पुकार।

शंका — जिसे जिनागम संबन्धी किसी भी बात के निर्णय में कोई त्रुटि रहती है, उसे सम्यग्दृष्टि कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर — नहीं, इन परोक्ष बातों के श्रद्धान व ज्ञान में बाधा पड़ने से सम्यक्-दर्शन में कोई हानि नहीं होती, क्योंकि इन विषयों पर विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत होते हैं। हाँ, स्वसंवेदनगम्य सात तत्त्वों के श्रद्धान व ज्ञान में दुरभिनिवेश तथा अन्यथा पता होने से या शंका रह जाने से, अवश्य सम्यग्दर्शन भंग हो जाता है।

इस प्रकार का प्रश्न श्री धवलाकार के सामने भी उपस्थित था (ध./१/पृ. २२७ पर २६२ में) इन्होंने इसका वही उत्तर दिया है कि यद्यपि करणानुयोग संबन्धी इन परोक्ष बातों के संबन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न मतों से, कौन सा मत सत्य है—इस बात को तो केवलि ही जानें। हाँ, ऐसी समस्या आने पर दोनों ही मतों का संग्रह कर लेना योग्य है। यदि वहाँ एक भी मत का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रहण करें तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। "यह सूत्र कथित है" ऐसा दृढ़ विश्वास होने के कारण, संशय मिथ्यात्व में भी उसका समावेश नहीं हो सकता। हाँ, प्रत्यक्षज्ञानियों के द्वारा सम्यक् स्वरूप दर्शाया जाने पर भी यदि दोनों में से एक का ग्रहण नहीं छोड़ता और उस सत्य पक्ष को ही एकान्त से अंगीकार नहीं करता तो अवश्य मिथ्यादृष्टि हो जाता।

अतः जिनागम के चारों अनुयोगों में स्वसंवेदनगम्य द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग का विषय ही मुख्यतया मोक्षमार्ग के लिये प्रयोजनभूत है। स्वसंवेदन द्वारा प्राप्त हुए उस प्रत्यक्ष परन्तु स्थूल ज्ञान को अधिक स्पष्ट करने, उसमें सूक्ष्मता लाने तथा जीवसमास व मार्गणास्थानादि के भान द्वारा जीवों के भेद-प्रभेदों व उनकी सूक्ष्मतादि को जान कर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्जवल बनाने के लिए तो करणानुयोग और संवेग व वैराग्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिये प्रथमानुयोग भी अनुपयुक्त दशा में रागी जीवों को अत्यन्त उपकारी हैं।

परन्तु निज वैभव के बिना वह सब तुषवत् है। ऐसी स्वानुभव की पुकार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६. अध्यात्म-अमृत

दिव्यध्वनि अगस्त १९६६

वह रसस्वरूप है, वह आनन्दस्वरूप है, वह अमृतस्वरूप है। स्वरूप व स्वरूपवान में ऐक्य होने से यह उस-उस स्वरूप न होकर स्वयं वही है। अतः कहना चाहिये, वह स्वयं रस है, वह स्वयं आनन्द है, वह स्वयं अमृत है। परन्तु वह कौन ? इस वह का लक्ष्य तो स्वयं मैं ही हूँ इसलिये रस, आनन्द व अमृत स्वय मैं ही हूँ। "मैं रस हूँ" इत्यादि कहना भी कुछ अखरता है, क्योंकि यहां भी द्वैत है। ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेयकी विकल्पात्मक त्रिपुटी विद्यमान है। जब तक "मैं" का भान है तब तक रस नहीं, और जब रस है तब मैं का भान नहीं। सम्पूर्ण प्रपंच लय हो जाते हैं जहां, वह परमतत्त्व ही परमार्थ है। अध्यात्म दृष्टि में वह परमसत् है। उसके अतिरिक्त अन्य सब दृष्ट तो प्रपंच है और इसलिये असत् है, माया है, धोखा है। उनकी ओर देखना पर्याय दृष्टि है। अध्यात्म-मार्ग में अत्यन्त हेय है, क्योंकि विकल्प जाल में उलझाकर रस का विघात करने वाला है।

परन्तु उस तत्त्व का साक्षात्कार कैसे हो ? साधन हैं दो--ज्ञान व दर्शन। ज्ञान विकल्पात्मक है और दर्शन निर्विकल्प, क्योंकि ज्ञान तो ज्ञेय सापेक्ष है और दर्शन ज्ञेय निरपेक्ष अन्तःप्रत्यक्षरूप होता है। द्रव्य की आकृतिरूप नहीं, इसलिये वह निराकार उपयोग का विषय है। साकार का नहीं, ज्ञान व दर्शन दोनों चैतन्य की ही वृत्तियां होने से, भले अभेददृष्टि से इस अन्तःप्रत्यक्ष को स्वसंवेदनज्ञान कहें, परन्तु भेददृष्टि से तो वह ज्ञान नहीं दर्शन है। क्योंकि संवेदन ज्ञानात्मक नहीं अनुभवात्मक है। यही कारण है कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र ये तीन अंग बताये गये हैं।

आत्मा की दो मुख्य वृत्तियां हैं—उपयोग व योग। उपयोग प्रतिभासात्मक होता है और योग परिस्पन्दात्मक। वहां उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान और योग एक ही प्रकार का है। इसलिए भेददृष्टि से तीन वृत्तियां हैं। दर्शनोपयोग के द्वारा रस का अद्वैत वेदन होता है, ज्ञानोपयोग द्वारा उस वेदन में "मैंपने की कथंचित् द्वैत प्रतीति होती है और योग द्वारा उसमें स्थिर रहने का निरन्तर प्रयत्न होता है। जब तक यहाँ त्रयात्मक द्वैत है तब तक मोक्षमार्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है पर मोक्ष नहीं। द्वैत विनाश होकर उपरोक्त तीनों एक रस हो जायें, प्रयत्न समाप्त हो जाये और सहज रस रह जाये वह ही मोक्ष है। प्रयत्न समाप्त होने पर पुनरावर्तन भी समाप्त हो जाता है।

इसलिये मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र ये तीन अंग स्वीकार किये गये हैं। पर मोक्ष में सम्यग्चारित्र वाला अंग स्वीकार नहीं किया जाता। उसका स्थान वहां आनन्द व सुख ले लेता है। सिद्धों में उपयोग होता है पर योग नहीं और यही कारण है कि वहां दर्शन ज्ञान है पर चारित्र नहीं। प्रयत्न के अभाव में वहाँ दर्शन ज्ञान कहना भी उपचार है, क्योंकि वहां द्वैत को अवकाश ही नहीं। भेददृष्टि से ही द्वैत है। एक ही स्वतत्त्व निर्विकल्प संवेदन रूप होने से दर्शन और ज्ञेयरूप अवधारण करने से ज्ञान कहा जाता है। यह दोनों भी आनन्द की गटागटी में लय होकर रह जाते हैं। आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति आनन्दरूप से ही विस्फुरित हो उठती है अतः वीर्य भी आनन्द के गर्भ में समा जाता है और इस प्रकार भगवान के अनन्तचतुष्टय अद्वैतता को प्राप्त होकर मात्र आनन्द का रूप धारण कर लेते हैं। यही अन्तिम परमतत्त्व है जो योगी जनों का चरम लक्ष्य है।

'सम्यग्दर्शन' शब्द के साथ 'श्रद्धा' न कहकर "दर्शन" कहने का भी यही प्रयोजन है। साधक की भूमिकाओं की तरतमता के अनुसार सम्यग्दर्शन के अनेकों लक्षण होने पर भी उसका अन्तिम लक्षण शुद्धात्मानुभूति ही किया गया है। श्रद्धादि लक्षण अतिव्याप्तादि दूषणों से दूषित है पर यह अन्तिम लक्षण अत्यन्त निर्दोष है। उसके श्रद्धादि लक्षण अत्यन्त स्थूल हैं जो केवल अनिष्णात जनों के लिये किये गये हैं और इसलिए औपचारिक हैं। रस-वेदन से ही वास्तविक मोक्षमार्ग का उद्घाटन होता है इसलिये वहां दर्शन शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७. अध्यात्म-दीप

जैन संदेश २५ अक्तूबर १९६२

आई दिवाली दीप जलाओ-नाचो गाओ हर्ष मनाओ। परन्तु दिवाली क्या, दीपक कैसा तथा नाचना गाना व हर्ष मनाना कैसा? चर्म-चक्षुगत भी यह सब कुछ करने-धरने व देखने में आता है, और अन्तर्चक्षु द्वारा भी यह सब किया व देखा जा सकता है। भौतिक दीपक जगाने से भौतिक बाह्य-प्रकाश होता है और अन्तर्दीपक जगाने से आध्यात्मिक अन्तर्-प्रकाश होता है। भौतिक प्रकाश देखकर भी मन में हर्ष, वचन में गान और शरीर से नृत्य होने लगता है। भौतिक-प्रकाश में भौतिक-लक्ष्मी अवतीर्ण होती है और अध्यात्म-प्रकाश में अध्यात्म-लक्ष्मी अवतीर्ण होती है। भौतिक-लक्ष्मी की प्राप्ति के अर्थ ही अपना सर्वस्व दाव लगा दिया जाता है और अध्यात्म-लक्ष्मी की प्राप्ति के अर्थ भी अपना सर्वस्व दाव लगा दिया जाता है। भौतिक-दीपक, भौतिक-हर्षोल्लास, भौतिक-लक्ष्मी व भौतिक-जुआ सर्व परिचित हैं परन्तु आध्यात्मिक-दीपक, आध्यात्मिक-हर्षोल्लास, आध्यात्मिक-लक्ष्मी व आध्यात्मिक-जुआ यह सब अत्यन्त गुह्य व रहस्यपूर्ण विषय है। भौतिक-दृष्टि वाले सर्व साधारण जनों को उसकी महिमा का क्या पता? उन बेचारों को तो भौतिक-जगत ही दिखाई देता है और उस ही की महिमा का वे गान करते हैं।

आओ आज अपूर्व दिवाली मनायें, अपूर्व दीपक जलायें, अपूर्व हर्ष मनायें, अपूर्व मंगल गायें, अपूर्व नृत्य करें, अपूर्व जुआ खेलें और अपूर्व लक्ष्मी का उपभोग करें। वह लक्ष्मी जो स्वभाव से उत्पन्न होती है वह लक्ष्मी जिसे बटवाया या चुराया जाना असंभव है, वह लक्ष्मी जो निश्चल व ध्रुव है, वह लक्ष्मी जो अनन्त है, वह लक्ष्मी जो अतीन्द्रिय है जिसके सामने तीन लोक के इन्द्रों व अहमिन्द्रों की सम्पत्ति भी हेय है, वह लक्ष्मी जो अत्यन्त तृप्तिकर है। अहा! हा! कैसे बखान करें, उसकी महिमा का? अनुभव करने से ही जिसका संबन्ध है उसको पशु शब्द बेचारा कैसे स्पर्श कर सकता है? अनादिकाल से भौतिक-लक्ष्मी को ही भोगता आया है, आज भी उसके पीछे हाथ धोकर पड़ा है। अनर्थक उसके पीछे दौड़ा जा रहा है। परन्तु वह मिलकर भी नहीं मिलती, सामने आकर भी विलीन हो जाती है। आश्चर्य है अब तक भी उसकी माया पर तुझे विश्वास नहीं आया अब तक भी उसे सार-स्वरूप समझ रहा है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभु ? अब भी अवसर है समझ जा, तनिक विचार तो सही कि अनादिकाल से आज तक की अटूट भाग-दौड़ से तुझे क्या मिला निराशा के अतिरिक्त ? आज तक जिसमें कुछ सार न निकल सका भला अभी उसमें से क्या निकल सकेगा।

अब एक क्षण को उधर से दृष्टि हटाकर इधर भी तो देख ले अपने ही अन्तष्करण में, जहाँ बैठा है तेरा प्रभुत्व, अत्यन्त महिमावन्त, अत्यन्त तेजपुंज देव-नरक आदि या त्रस-स्थावर आदि में विभाजित द्वैत या अनेकत्व में अनुगत, इन सभी नाम व रूपों में ओतप्रोत इन सबमें व्याप्त, सबके अंतर्यामी उस एक तत्त्व की ओर देख, जो एक है सर्वव्यापी है, नित्य है केवल चित्प्रकाश स्वरूप है। जिसमें मैं तू को अवकाश स्त्री-पुरुष का भेद नहीं। जिसमें बालक-वृद्धादि रूप परिवर्तन नहीं। जो नित्य कूटस्थवत् अनादि से अनन्त काल पर्यन्त ज्यों का ज्यों दृष्ट हो रहा है। वह चित्-प्रकाश मात्र है। भास्वत् है, भास्वरूप है, प्रभापुंज है, एक झक्कारा है अत्यन्त जाज्वल्यमान जिसके चरणों में समस्त विश्व स्वयं अपना सर्वस्व अर्पण किये बैठा है। चित्-प्रकाश के अतिरिक्त क्या कहें इसको ?

कोई इसे ईश्वर कहता है कोई नारायण, विष्णु व हरि कहता है कोई संकर्षण व कृष्ण कहता है, कोई ब्रह्मा व महेश कहता है, कोई इसे पुरुषतत्त्व व परब्रह्म कहता है। मैं इसे क्या कहूँ कुछ समझ में नहीं आता। एक शब्द के द्वारा भी जो कहा नहीं जाता, अनेक शब्दों के द्वारा भी जो कहा नहीं जाता, सामगान द्वारा जिसका बखान किया नहीं जाता। अजीब सी बात है। फिर भी उसे सच्चिदानन्द-बोध के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव किया जा रहा है। वह सत् है। वह चित् है। वह आनन्द पिण्ड है। यह तो सामान्य संज्ञायें हैं। जिनसे साधारण जन बेचारे क्या समझें। परन्तु वह बोधस्वरूप है। वह विश्वस्वरूप है। वह सर्वज्ञ है, वह अनन्तज्ञ है। इतना कहने से कदाचित् उसकी महिमा का भान हो जाता है।

पर 'वह' इस शब्द के द्वारा कहने पर तो ऐसा प्रतीत होता है मानों मुझसे भिन्न ही किसी व्यक्ति के संबंध में कहा जा रहा है। वास्तव में ऐसा नहीं है 'तत्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा कहिये। वह तू ही तो है। परन्तु इस प्रकार कहने पर भी वह और तू का द्वैत बुरी तरह अखरता है, क्योंकि जो वह है वह तू नहीं हो सकता और जो तू है वह-वह नहीं हो सकता। तो फिर वह क्या है भैया ? अस्मद् या युष्मद् को कल्पना से अतीत उसे एक चिद्भाव रूप से क्यों नहीं देखता। (चेतनतत्त्व) इस प्रकार 'त्व' प्रत्यय से चिह्नित जो एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव सामान्य है, वह किसी की निरास है—तेरी, मेरी या उसकी। न वह तेरा है न मेरा है और न उसका है। वह तेरा भी है मेरा भी है और उसका भी है। इस प्रकार तू-मैं व वह इन सबों में जो अनुगताकार रूप से व्याप्त है वह उसी प्रकार का लक्ष्यार्थ है।

तू उसे जीव-द्रव्य कहना चाहता है। तू उसे किमी आकृति विशेष वाला देखना चाहता है। तू उसे शुद्ध या अशुद्ध अथवा संसारी या मुक्त देखना चाहता है। तू उसे अल्पज्ञ व सर्वज्ञ के रूप में समझना चाहता है। परन्तु भाई ! वह इन सर्व विकल्पों से अतीत एक व्यापक नित्य चैतन्य तत्त्व है। उसकी ओर देखना ही अन्तर्दीप जगाना है क्योंकि ऐसा करने से अनन्त प्रकाश की प्रतीति होती है। भौतिक-प्रकाश नहीं चित्-प्रकाश। उसके दर्शन मात्र से समस्त विकल्प शांत हो जाते हैं। अपूर्व आनन्द की हिलोरें उठती हैं। हर्ष व उल्लास जाग्रत होता है। हृदय मधुर राग अलापने लगता है और शरीर का रोम-रोम पुलकित होकर नाचने लगता है। यही है वह अलौकिक दीप। हर्ष-गान व नृत्य।

यही है वह अद्वितीय लक्ष्मी जो भव-भव की आकांक्षायें शांत कर देती है। जो सदा के लिए उसकी होकर रह जाती है। परन्तु इसके लिये बलिदान की आवश्यकता है। क्या दे सकेगा सर्वस्व की बलि, धन की बलि, कुटुम्ब की बलि, शरीर की बलि, अन्तरंग बुद्धिगत धारणाओं की बलि, अहंकार व ममकार की बलि, इष्ट व अनिष्ट की बलि, मन की बलि व इन्द्रियों की बलि ? बलि अर्थात् त्याग, सदा के लिये त्याग ऐसा कि सर्व ही अपने-अपने कारणों में विलीन हो जायें। उनके स्थान में शून्य रह जाये, और यहाँ अन्तरंग में खिल उठे सारा जगत समस्त प्रकाश आह्लाद। यही है अलौकिक अध्यात्म-दीपावली।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१८. कल्याण (एक आध्यात्मिक रूपक)

दिव्य ध्वनि जुलाई १९६६.

तीर्थाटन करते हुए एक दिन दैत्यराज 'मन' तीर्थराज 'चैतन्य' पहुँच गया। जयकार ध्वनि के साथ अत्यन्त भक्ति पूर्वक 'हृदय' मंदिर में प्रवेश किया। बड़े बड़े स्तोत्र व पाठों द्वारा अष्टद्रव्य से भगवान की पूजा करने की बड़ी उमंग थी उसके हृदय में, परन्तु समवशरण में प्रवेश पाते ही उसकी दृष्टि सामने विराजमान महाप्रभु 'सच्चिदानन्द' भगवान की मनोहर शान्त प्रेमपूर्ण चितवन पर पड़ी, त्यों ही राजा का रंग बदल गया। स्तब्धता छा गयी उस पर। पूजा करने की उमंग लापता हो गयी। छननन पूजा की थाली छूट गयी उसके हाथ से, राजा का समस्त परिकर व मंदिर के पुजारी दौड़े कि यह क्या हुआ। कोई वैद्य को बुलाने के लिये चीखने लगा और कोई राजा के मुख पर गुलाब जल छिड़कने लगा, कोई मुंह में उँगली दबाये देख रहा था प्रभु के इस अनोखे चमत्कार को और कोई पकड़कर संभाल रहा था राजा के निश्चेष्ट (सूत्रधार) शरीर को।

परन्तु राजा को इस सबकी कुछ भी सुध न थी। शरीर में चेष्टा, नेत्रों में निमेष, नासा में श्वास-प्रश्वास, नसों में रक्त-प्रवाह और मन में संकल्प-विकल्प सब कुछ शान्त हो चुके थे। उसके निर्निमेष नेत्र प्रभु की चितवन पर चिपक कर ही रह गये। जीवन का कोई भी लक्षण प्रगट नहीं था। परन्तु राजा के अन्दर में भान था अद्वितीय प्रकाश का, जिसको स्वयं वह अपने मस्तिष्क में साक्षात्कार कर रहा था। अन्य बाहर के व्यक्ति नहीं। उस अन्तर्तेज में भी सहसा एक सूक्ष्म कम्पन हुआ और वह दो दिव्य ज्योतियों के रूप में दोनों नेत्रों के द्वार से निकल कर प्रभु की उस मोहनी मूरत को पी गया अपने अन्दर। मूरत अन्तर्धान हो गयी और ज्योतियाँ पुनः उसी द्वार से समा गयीं उसी अन्तर्तेज में। यह देखकर सब घबरा गये, क्योंकि प्रभु के अन्तर्धान होने की यह विचित्र घटना उस क्षेत्र में पहली बार हुई थी।

राजा के खुले हुए नेत्र भी अब बन्द हो गये ताकि उसके मनमोहन को उसे छोड़कर बाहर निकलने का मार्ग न मिल सके। भक्ति-भाव से ओतप्रोत हुआ वह साष्टांग लेट गया प्रभु के चरणों में, और पकड़ लिया उनको कसकर, मानो उसे भय था इस बात का कि कहीं प्रभु उसे धोखा देकर कहीं चले न जायें। क्यों न हो, पहले अनेकों बार खा जो चुका था धोखा वह—अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसी मनमोहन की मीठी बातों में आकर तथा उसके बड़े-बड़े वायदों पर विश्वास करके, अबकी बार वह पूरी तरह सावधान होकर बैठा था कटिबद्ध होकर प्रभु को रोक रखने का दृढ़ संकल्प कर चुका था, क्योंकि वह जानता था कि एक बार निकल जाने पर, संसार के इस निविड़ अन्धकारपूर्ण गहन वन में उन्हें खोजना अत्यन्त कठिन है। पर आई निधि को वह किसी मूल्य पर भी छोड़ने को तैयार न था।

उसने प्रभु का आलिंगन करके उन्हें अपने दृढ़ करपाशों में जकड़ लिया, मानो स्वयं उनमें समा जाना चाहता हो। प्रभु के स्पर्श से उत्पन्न आनन्दोद्रेक में झूम उठा वह। प्रेम परवश हुआ उसका गद्गद् हृदय द्रवित होकर नेत्रमार्ग से बह निकला और उसी के द्वारा पखारने लगा वह अपने प्रभु के चरणों को। उसके सकल शरीर में रोमांच हो आया और अन्दर ही अन्दर अपने प्रभु के साथ तन्मय हुआ वह कुछ गुनगुनाने लगा मानो चिरलुप्त उसकी चेतना के तार ही झंकार उठे हों। हे नाथ! अबकी बार मुझे इस वन में अकेला छोड़कर मत जाना। मुझसे एक क्षण भी आपकी विरह-वेदना सहन नहीं होती। मुझे अपने में समा लीजिये, ताकि आप जहाँ-कहीं भी जायें आपका यह चरणदास, चरणों की सेवा में तत्पर रहता हुआ सदा आपके साथ ही रहे आपकी इस रसपूर्ण सेवा को छाड़कर मुझे मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं है।

राजा स्तुति कर रहा था—हे त्रिश्वेश्वर! परमेश्वर! हे दिगम्बर! हे विश्वम्भर! हे सर्वात्मा! हे प्रभु! हे विभु! हे विष्णु! हे अनन्त! हे अच्युत! हे बुद्ध! हे सच्चिदानन्द! हे परमात्मा! आपको मेरा नमस्कार, शत् शत् नमस्कार। हे गीत! हे तीर्थ! हे जगदीश! हे गिरीश! हे सर्वकाम! हे सर्वधाम! हे देशातीत! हे कालातीत! हे सुवेश! हे सुधेश! आपको मेरा नमस्कार शत्-शत् नमस्कार। भव-भव में भटकता मैं संसार के असत्य ताप से जलता, आज आपकी शरण में आया हूँ। मुझे बचाइये-मुझे बचाइये। देखिये नाथ! यह राक्षस 'अहंकार' किस बुरी तरह से मेरे पीछे पड़ा है। नदियों में, सागर में, गिरि व कन्दरा में, आकाश व पाताल में जहाँ भी जाता हूँ इसे मुँह फाड़े खड़ा अपने समक्ष पाता हूँ। देखिये दिल दहला देने वाला इसका भयंकर अट्टहास। कभी अपनी विकराल दाढ़ों में मुझे पीस डालता है और कभी अपने तीखे नखों से मुझे फाड़ डालता है। कभी मुझे जीवित ही निगल जाता है और कभी मुझे तड़पा-तड़पाकर खेलने लगता है। देखिये तो इसका कुसाहस आपकी ओर भी वन्दर की भांति दांत दिखा दिखाकर मुझे खिजा रहा है मानो कह रहा हो कि "राजन्! मैं तेरे इस बहुरूपिये भगवान से नहीं डरता, जिस पर तुझे गुमान है वह तो मेरी डयोढ़ी के दरबान का काम करता है, वस मेरे चंगुल से निकलने का प्रयत्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मत कर, वरना याद रख कि तुझे और तेरे भगवान को समूल खा जाऊँगा।" देखिये यह फिर चढ़कर मुझ पर आता है। यह न मुझे आपके दर्शन करने देता है और न आपका उपदेश सुनने व समझने देता है। हे प्रभु! इससे मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये, क्योंकि इस महाबली राक्षस को परास्त करने के लिये आपको छोड़कर इस जगत में और कोई भी समर्थ नहीं है।

प्रभु की मोहिनी-मुद्रा पर एक मधुर मुस्कान खेल उठी। साथ ही उनका हाथ उठा और वरदान देते हुए एक मधुर ध्वनि निकल पड़ी उनके मुख द्वार से —'कल्याण हो राजन्, तेरा कल्याण हो।' एक बार तो खो गया उस ध्वनि की गुंजार में, परन्तु अगले ही क्षण मानो जग गया हो वह। हाथ जोड़कर सर झुकाकर अत्यन्त विनम्र पूछने लगा वह अपने प्राणनाथ से—मेरी बुद्धि मोहित हो रही है प्रभु! मैं नहीं जान पाता कि कल्याण किसे कहते हैं। कोई राज्य-लक्ष्मी व इसके भोग को कल्याण कहता है तो कोई कहता है इसके त्याग को। आप स्पष्ट बताकर मेरा कल्याण कीजिये। कल्याण क्या है—विषयों का ग्रहण या त्याग, घर में रहना या वन में रहना, कपड़े पहनना या नग्न होना, भोजन करना या निराहार रहना, स्त्रियों के संग रहना या तप करना? अच्छा छोड़िये इनको, त्यागी या साधु बनकर भी कल्याण काहे में है—उपदेश देने में या उपदेश सुनने में, शास्त्र पढ़ने में या शास्त्र पढ़ाने में, ठौर-ठौर घूमने में या एक स्थान पर रहने में, लोगों के बीच ऊंचे-सिंहासन पर बैठकर अपनी जय-कार सुनने में या जंगल के कोने में छिपकर बैठने में, परिचय बढ़ाने में या परि-चय घटाने में. अपनी विद्वत्ता व तपादि को प्रगट करने में या उसे छिपाने में, अपनी प्रशंसा करने कराने या पागल बनकर छोटे-छोटे बच्चों द्वारा, निरपेक्ष स्वतन्त्र विचरने में। मैं किसी भी निर्णय पर पहुँच नहीं पाता। आप मेरी यह ग्रन्थि खोलिये, मुझे इस अहंकार को जीतने का उपाय बताइये।

क्या कहा? आगम व विद्वज्जनों से निर्णय करूँ, परन्तु प्रभो, उससे भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती क्योंकि इस विषय में आगम जो कुछ कहता है वह किसी ऐसे युग की बात है जो वर्तमान में किसी प्रकार भी संभव प्रतीत नहीं होती। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव चारों ही प्रतिकूल हैं उसके। इसी कारण अनेकों प्रकार की अस्वाभाविक कृत्रिमतायें प्रवेश पा गयी हैं उसमें, जिससे कि कल्याण के स्थान पर प्रत्यक्ष अकल्याण ही होता दिखाई देता है। दबने की बजाय अहंकार और भी अधिक बलशाली हो गया है। विद्वज्जन भी इस विषय में प्रमाण नहीं क्योंकि वहाँ जितने मुंह उतनी ही बातें हैं। सबकी बातें मानकर सभी को सन्तुष्ट करना एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं, ऐसी परिस्थिति में कोई क्या करे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१९. राग मेरा नहीं

धन कुटुम्बादि तथा शरीर इन पदार्थों को पर कहना तो सरल है क्यों क बिना परिश्रम के ही समझ में आ जाती हैं। चेतन व इन द्रव्यों की जाति में ही अन्तर है। यह तीन काल में भी एक नहीं हो सकते। शरीर आदि को जीव का कहना तो स्पष्टतः असत्यार्थ है अध्यात्मवादी कभी भी यह कहना स्वीकार नहीं करता, परन्तु हम तो तुम्हें कहीं इससे भी आगे ले जाना चाहते हैं। वहाँ जहाँ कि अध्यात्म का सूक्ष्म रहस्य छिपा हुआ है।

त्रिकाली भिन्न सत्ताधारी जीवों में पृथक्ता देखना स्थूल अध्यात्म है और एक ही पदार्थ के यों क्षणिक भावों में पृथक्ता देखना सूक्ष्म अध्यात्म है। पहले का विषय द्रव्य है और दूसरे का पर्याय अर्थात् द्रव्य की अवस्था। पहिला द्रव्यार्थिक नय का विषय है और दूसरा पर्यायार्थिक नय का। यह दृष्टि पदार्थ के अपने अन्दर में पड़ी उस सूक्ष्म संधि को देखती है जो लौकिक स्थूल दृष्टि में आनी असंभव है। प्रज्ञा-छैनी के द्वारा ही सूक्ष्म सन्धि का साक्षात्कार किया जा सकता है।

पदार्थ का स्वभाव अर्थात् पारिणामिक भाव को लक्ष्य में लेकर पदार्थ का विचार करने पर ही यह रहस्य समझा जा सकता है। उसकी शुद्ध व अशुद्ध व्यंजन पर्यायों को लक्ष्य में लेने से नहीं। अतः सूक्ष्म व विशुद्ध अध्यात्म का परिचय पाने के लिये अन्तर्-स्थिर-दृष्टि की आवश्यकता है। चंचल-दृष्टि में उसका प्रवेश नहीं, क्योंकि प्रसंग आने पर वह दृष्टि अपने लक्ष्य से बहक जाती है। ज्ञान से तन्मय होने के कारण आत्मा का काम जानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। 'इस बात को स्वीकार कर लेने पर भी, घट बनाना कुम्हार का काम नहीं।' जब ऐसा समझने का अवसर आता है तो तुरन्त दृष्टि अपने पूर्व के लक्ष्य पर से बहक कर इस चिंता में पड़ जाती है कि कुम्हार के बनाये बिना घट बना कैसे ?

अर्जुन को लक्ष्य साधते समय जिस प्रकार कौवे की आँख के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता था, भले ही वहाँ वृक्षादि अनेकों पदार्थ पड़े हों इसी प्रकार पदार्थ का लक्ष्य साधते हुए तुम्हें भी उसके पारिणामिक भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई देना नहीं चाहिये। भले ही वहाँ निमित्त–नैमित्तिक अनेकों संयोग पड़े हों। ऐसे स्थिर लक्ष्य में निमित्त–नैमित्तिक-भाव भी अभेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व अखण्ड वस्तु के अपने अन्दर ही देखा जाता है। जैसा कि ग्रन्थाधिराज समयसार की १०० वीं गाथा की टीका करते समय भगवदमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी घट बना नहीं सकता। अज्ञानी भी निमित्त रूप से यदि कुछ कर सकता है तो केवल घट बनाने का विकल्प कर सकता है, इसके आगे कुछ नहीं। अतः इस सूक्ष्म-दृष्टि को समझने के लिये अब लक्ष्य को स्थिर कर।

इन्द्रिय अग्राह्य चेतन और इन्द्रिय ग्राह्य जड़ दोनों ही द्रव्य में दो प्रकार के क्षायिकभाव या अवस्था विशेष देखने को मिलते हैं। स्वभाव-अवस्था तथा उससे विपरीत विभाव-अवस्था। जिसमें किसी का मेल या संयोग न पाया जाये वह स्वभाव-भाव है। और जिसमें किसी प्रकार भी अन्य का मेल या संयोग पाया जाये वह विभावभाव है। अकेला परमाणु जो इन्द्रिय के द्वारा दृष्टिगत नहीं हो सकता तथा उसके स्पर्श, रस व गंधादि गुण जड़ पदार्थ का स्वभाव है। भाव है। और सम्पूर्ण स्कन्ध विभाव-भाव है। क्योंकि अनेकों सूक्ष्म परमाणुओं का संयोग हुए बिना इनका निर्माण होता नहीं, इसी प्रकार लोक-शिखर पर परमधाम में विराजमान नित्य-निरंजन व शरीर रहित निराकार सिद्ध भगवान या मुक्त आत्मा तथा उनके सर्वज्ञत्व आदि गुण जीव के स्वभाव-भाव हैं। और ये सब संसारी जीव व उनके क्रोधादि गुण जीव के विभाव-भाव हैं। 'स्वभाव भाव' निज भाव व स्वभाव कहलाते हैं। और 'विभाव भाव' पर-भाव कहलाते हैं। इस प्रकार एक ही द्रव्य के अपने भावों में ही स्व-पर का विभाजन करके द्वैत दर्शाना इस सूक्ष्म दृष्टि का कार्य है।

पर्याय या अवस्था कभी द्रव्य से पृथक् होकर नहीं रह सकती। द्रव्य स्वयं बदलता हुआ अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है। अतः इन स्व व परभाव या अवस्थाविशेषों से तन्मय अखण्ड द्रव्य में भी किंचित विजातीयता का आभास होने लगता है। यहाँ जड़-द्रव्य को छोड़कर केवल जीव-द्रव्य में ही उसकी विजातीयता की सिद्धि करते हैं। तहां जड़-द्रव्य में यथायोग्य रूप से स्वयं लगा लेना। जीव-द्रव्य एक विचित्र प्रकार का वस्तुभूत या सत्ताधारी अमूर्तिक पदार्थ है, कल्पना मात्र हवा नहीं है। वह अपने को भी जान सकता है और पर को भी। जानना मात्र ही हुआ होता तो कोई हर्ज न हुआ होता। यहाँ जानने के साथ कुछ और भाव भी पैदा होता है। अपने को जानते हुए तो इसको स्व व पर दोनों ही पदार्थ दिखाई देते हैं क्योंकि ज्ञान दर्पण के समान है। जिस प्रकार दर्पण को देखते समय दर्पण तथा अन्य पदार्थ के प्रतिबिम्ब सब ही दिखाई देते हैं उसी प्रकार ज्ञान के संबंध में भी समझना, किन्तु पर को जानते हुए इसे निज रूप दिखाई नहीं देता। अपने को जानते समय इसका भाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने साथ तन्मय होता है और पर को जानते हुए पर के साथ तन्मय होता है। तन्मय का अर्थ यहां उस पदार्थ रूप बन जाना नहीं, क्योंकि चेतन का जड़ बन जाना और जड़ का चेतन बन जाना तीन काल में भी सम्भव नहीं। अपने को भूलकर केवल उस पदार्थ को ही देखना, पर पदार्थ के साथ तन्मयता कहलाती है। इस कारण चेतन होते हुए भी उसमें चेतन भाव व जड़भाव दोनों देखे जा सकते हैं। वात बड़ी विचित्र है, पर दृष्टि-विशेष से समझी अवश्य जा सकती है।

जीव पदार्थ में ज्ञान गुण ही प्रमुख है, अन्य सब उसका विस्तार है। चेतन के सब गुण चेतन हैं अर्थात् ज्ञानात्मक व अनुभवात्मक हैं। ज्ञान तो ज्ञान है ही-श्रद्धा भी ज्ञानात्मक है। और चारित्र या प्रवृत्ति भी, क्योंकि ज्ञान के निःसंशय रूप को श्रद्धा कहते हैं और उसी के स्वभाव स्थित रूप को चारित्र कहते हैं। शांति भी ज्ञानात्मक है क्योंकि अनुभव करना ज्ञान का ही काम है। इसी कारण आत्मचित्पिण्ड कहा जाता है। या यों कहिये कि ज्ञान मात्र ही जीव है। अत. ज्ञान के कार्यों को ही ज्ञान का विषय बनाना अभीष्ट है। यह बात न भूलना कि यह सूक्ष्म-दृष्टि पर्याय की क्षणिक सत्ता को लक्ष्य में लेकर चली है। द्रव्य की ध्रुव सत्ता को नहीं।

यद्यपि ज्ञान का कार्य जानना है, पर उसके साथ कुछ और भी संलग्न है। जानना दो प्रकार का होता है—एक केवल जानना और दूसरा कल्पना विशेष के साथ जानना। अजायब घर में रखी हुई वस्तुओं को जानना केवल जानना है। अथवा राह चलते किसी साधारण व्यक्ति को जानना केवल जानने का उदाहरण है : और घर में पड़ी वस्तुओं को अथवा पुत्र को जानना कल्पना सहित जानने का उदाहरण है। अजायब घर में कोई वस्तु इष्ट-अनिष्ट या तेरी-मेरी नहीं, पर घर की वस्तुओं में कोई इष्ट है कोई अनिष्ट या कोई तेरी है कोई मेरी। इसी प्रकार राह चलता हुआ साधारण व्यक्ति मेरे लिये अच्छा है न बुरा, शत्रु है न मित्र परन्तु अपना पुत्र मेरे लिये अच्छा है, मेरा अपना है, मेरी सेवा करने वाला है। अजायब घर की वस्तुओं में कोई ग्राह्य है और कोई त्याज्य, कोई बनाने योग्य है और कोई बनाने योग्य और बिगाड़ने योग्य। इसी प्रकार राह चलता व्यक्ति न प्रेम किया जाने योग्य है और न द्वेष, न बाधा पहुँचाने योग्य है और न सहायता किया जाने योग्य है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना।

यहाँ अजायब घर की वस्तुओं को जानना अथवा राह चलते व्यक्ति को जानना तो कर्तापने या भोक्तापने की कल्पनाओं से अतीत केवल जानना है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और घर की वस्तुओं को जानना अथवा अपने पुत्र को जानना कर्ता भोक्तापने की कल्पनाओं सहित होने के कारण जानने के साथ-साथ कुछ और भी हैं। ज्ञान के पहले जाति के कार्य को 'ज्ञानधारा' कहते हैं और दूसरी जाति के कार्य को 'कर्मधारा' कहा गया है। पारिणामिक शब्द याद रखना क्योंकि अगले प्रकरण में इसका अधिक विस्तार आने वाला है। ज्ञान-क्रिया ज्ञाता-दृष्टा भावरूप है। और कर्ता-क्रिया क्रोधादि विकारों रूप। ज्ञान-धारा ज्ञान के परिणाम भाव या स्वभाव के साथ तन्मय है अर्थात् उसके बिल्कुल अनुरूप है। इसलिये चेतन भाव है और कर्म-धारा पर पदार्थों के करने-धरने के विकल्पों सहित होने के कारण ज्ञान के पारिणामिक भाव या स्वभाव के साथ तन्मय नहीं है अर्थात् उसके बिल्कुल अनुरूप नहीं है, अतः पर-भाव है चेतन-भाव से अन्य है और इसलिये अचेतन या जड़-भाव है।

इन दोनों जाति की क्रियाओं में ज्ञान एक समय में एक ही कार्य कर सकता है, क्योंकि उपयोग विशेष अर्थात् जानना विशेष ज्ञान की एक क्षणिक अवस्था है। पहले कुछ और जानना है पीछे कुछ और। पहले कुछ और जाति से जानता है पीछे कुछ और जाति से, एक ही क्षण एक ही ज्ञान की दोनों अवस्थायें नहीं हो सकतीं। इसलिये 'ज्ञानधारा' के सद्भाव में 'कर्मधारा' और कर्मधारा के सद्भाव में ज्ञानधारा होनी असंभव है। अर्थात् क्रोध व रागादि विभाव भावों के समय ज्ञाता-दृष्टापने की साम्यता और साम्यतापने के समय क्रोध व रागादि विभाव-भाव होने असंभव हैं।

ज्ञानधारा से तन्मय चेतन 'ज्ञाता' कहलाता है और कर्मधारा से तन्मय चेतन 'कर्ता' कहलाता है। इसका कारण भी यही है कि ज्ञान का अपने जानने स्वभाव के अनुरूप कार्य अथवा पर्याय ही ज्ञान की जाति का कार्य या पर्याय कहा जा सकता है। कर्ता भोक्तापने की कल्पनायें ज्ञान के पारिणामिक भाव या स्वभाव की जाति की नहीं होने के कारण उन्हें ज्ञान की जाति का कार्य या पर्याय नहीं कहा जा सकता। ज्ञान भाव से तन्मय ज्ञान का कार्य 'ज्ञान' कहलाता है और कल्पनाओं या विकल्पों से तन्मय ज्ञान का कार्य विकल्प या राग कहलाता है। इस प्रकार एक ज्ञान के दो भेद कर दिये गये–एक ज्ञान व दूसरा राग।

पहले भेद अर्थात् ज्ञानधारा वाली क्रियाओं में तो मैं ज्ञाता इस ज्ञेय को जानता हूँ, ऐसा भाव बना रहता है। परन्तु कर्मधारा में ज्ञान स्वयं ज्ञेय के साथ तन्मय होकर भूल जाता है कि मैं जानने वाला भी कोई हूँ। उसको ज्ञेय पदार्थ या उसकी अवस्था ही दीखती है, ज्ञान-ज्ञेय का भेद नहीं रहता। यद्यपि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञेय संबंधी विकल्प से तन्मय है, ज्ञेय पदार्थ से नहीं, परन्तु यह विकल्प है और ज्ञेय मुझसे भिन्न है ऐसा भी भाव नहीं होता है। स्व-परका विवेक सर्वथा लुप्त हो जाता है। इसलिये उस ज्ञान को उपचार से यदि ज्ञेय के साथ तन्मय कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। अतः ज्ञानधारा स्व-पदार्थ के साथ तन्मय होने के कारण स्वभाव है और कर्मधारा पर-पदार्थ के साथ तन्मय होने के कारण पर-भाव है।

अन्य प्रकार से भी इन दोनों भावों में स्व व परका विवेक किया जा सकता है, जबकि मैं अपने अन्दर में डुबकी लगाकर उस चेतना में रागादि भावों को खोजने के लिये जाता हूँ तो वहाँ उनका अभाव पाता हूँ। और जब अन्य पदार्थों में डुबकी लगाकर खोजने जाता हूँ तो वे अप्रत्यक्ष हो जाते हैं। बताइये उन्हें किसके कहें। चेतन के या अन्य पदार्थों के? जिस वस्तु को जिस वस्तु की सत्ता दिखाई दे उसी वस्तु की उसे कही जा सकती है। दूसरे की कैसे कहें। अतः रागादि भाव चेतन या जीव के न कहकर जड़ या ज्ञेय पदार्थों के कहे जाते हैं। अग्नि में डालने से लोहा लाल हो गया, अग्नि रूप हो गया, लोहे में रहने वाली यह अग्नि वास्तव में लोहे की नहीं है, क्योंकि वैसा गर्म व लालपना लोहे का स्वभाव नहीं है। अतः वह लाली अग्नि की ही कही जा सकती है। इसी प्रकार आग पर रखा हुआ जल गर्म हो गया। जल के अन्दर रहने वाली गर्मी जल की नहीं है, क्योंकि वैसा गर्मपना उसका स्वभाव नहीं है अतः वह गर्मी जल की न कही जाकर अग्नि की कही जाती है।

किसी की धरोहर मेरे पास रखी है, कुछ दिन के पश्चात् वह ले जाता है। जब वह ले गया तब तो उसकी है ही है। पर जब तक मेरे पास रखी रही तब तक भी क्या मेरी कही जा सकती है? भले ही सारे जीवन मेरे पास रखी रहे पर मेरी नहीं कही जा सकती है। इस प्रकार जो रागादि क्षणभर मेरे पास रहकर चले जाते हैं वह मेरे कैसे कहे जा सकते है। एक राग आया चला गया, फिर दूसरा राग आया चला गया और इसी तरह यह सन्तति भले ही अनादि काल से मेरे साथ चली आ रही है पर मेरी नहीं कही जा सकती। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक बैंक में अनेकों व्यक्तियों का पैसा आता रहता है और जाता रहता है पर वह पैसा उस बैंक का नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार यथायोग्य रूप से अनेक प्रकार के इन रागादि भावों रूप इस कर्मधारा को जीव का नहीं कहा जा सकता, यही विशुद्ध अध्यात्म का भेद-विज्ञान है। जिसका ग्रहण अत्यन्त सूक्ष्म-दृष्टि से ही सम्भव है। एक ज्ञान में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही विवक्षावश स्व व पर का द्वैत उत्पन्न कराया गया है। साधारण दृष्टि में तो स्व व पर की कल्पना अत्यन्त स्थूल है, पर यहाँ स्व व पर की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म है। पहले वाली दृष्टि तो द्रव्यार्थिक-नयकी दृष्टि है, पर यह पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र का विषय है जिसकी अपेक्षा जो बालक है वह बूढ़ा नहीं कहा जा सकता और जो बूढ़ा है वह बालक नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि में बालक व बूढ़ा दो पृथक् व्यक्ति हैं, इसी प्रकार ज्ञान व राग दो पृथक् व्यक्तियें हैं। ज्ञानधारा के साथ तन्मय रहने वाला 'ज्ञाता' व्यक्ति कोई और है और कर्मधारा के साथ तन्मय रहने वाला 'कर्ता' कोई और है, इसलिये कहा है कि जो ज्ञाता है सो कर्ता नहीं और जो कर्ता है सो ज्ञाता नहीं।

इस प्रकार यहां इस प्रकरण में स्व-पर का भली भांति सूक्ष्म विवेक कराया गया। यद्यपि विषय कुछ कठिन सा है पर भाई! इसके समझे बिना छुटकारा नहीं। आगे आने वाले सारे मार्ग का मूल आधार यही भेद-विज्ञान है। अन्तरंग जीवन की वास्तविकता इसके बिना होनी असंभव है। अतः जिस-किस प्रकार भी इसे तू अवश्य समझ और जीवन के चौबीस घंटों की प्रवृत्तियों में इस सिद्धान्त को विचार का विषय बनाने का प्रयत्न कर! शांति-पथ का यह प्राण है। इसके बिना सम्पूर्ण धार्मिक अनुष्ठान विफल हैं।

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२०. ज्ञानधारा व कर्मधारा

रागादि भावों की परात्मकता दर्शाते हुए ज्ञानधारा का कुछ परिचय दिया गया, क्योंकि यह विषय अध्यात्म-मार्ग का प्राण है अतः अच्छी तरह समझाने के लिये यहाँ इसका विस्तार करना अभीष्ट है। ज्ञान के रूपों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह दो जाति का है - एक तो केवल वस्तु के वर्तमान स्वरूप अथवा भूत-भावि स्वरूप या त्रिकाली स्वरूप को जानने मात्र और दूसरा उस वस्तु के साथ अपना षट्कारकी नाता उत्पन्न करके उसमें अच्छे बुरे की कल्पना करने रूप। ज्ञान के पहले रूप का नाम 'ज्ञानधारा' है। और दूसरे का 'कर्मधारा'। ज्ञानधारा व ज्ञाता-दृष्टापना एकार्थवाचक हैं और कर्मधारा व कर्तावुद्धि एकार्थवाचक हैं।

यह ज्ञान किसी भी पदार्थ के संबन्ध में क्यों न हो दोनों जाति का है। ऐसा नहीं है कि निज आत्मा या भगवान संबन्धी ज्ञान तो ज्ञानधारा रूप हो और अन्य पदार्थों संबन्धी ज्ञान कर्मधारा रूप हो। निजस्वरूप व भगवान संबन्धी ज्ञान कर्मधारा रूप होना संभव है और लौकिक पदार्थों संबन्धी ज्ञान ज्ञानधारा रूप होना संभव है। सो कैसे वही दर्शाता हूँ।

मैं हूँ। ज्ञान स्वभावी हूँ। शांति मेरा स्वभाव है। पहिले भव में मैं कुत्ते के रूप में था। अगले भव में मैं देव के रूप में हो जाने वाला हूँ। अर्थात् जिसमें केवल मेरे भूत, वर्तमान व भविष्य काल संबन्धी अनेकों अवस्थाओं में गूंथे हुए एक अखण्ड रूप की सत्तामात्र दिखाई देती है। वह ज्ञानधारा रूप है, क्योंकि यहाँ था, हूँ और हूँगा के अतिरिक्त किसी भी अन्य पदार्थ के या अपनी ही किसी अवस्था विशेष के साथ षट्कारक का संबन्ध जोड़कर उनमें इष्टता व अनिष्टता उत्पन्न नहीं की गयी है। केवल होने मात्र का स्वीकार है। परन्तु मैं पहले भव में बहुत निकृष्टदशा में पड़ा था, बहुत दुःखी था, अब मैं कुछ धर्म करूँगा या भोग भोगूँगा, देव बन जाऊँ तो बहुत अच्छा लगेगा। इस प्रकार का वर्तमान सर्वज्ञान कर्मधारा रूप है। क्योंकि यहाँ अन्य पदार्थों व अपनो ही किन्हीं अवस्था विशेषों के साथ षट्कारक का संबन्ध जोड़कर उनमें इष्टता व अनिष्टता की कल्पना की जा रही है।

इस प्रकार भगवान पूर्ण शांति में स्थित हैं। वे तीन लोक को देख रहे हैं। पहले निगोद में रहते थे। आगे सदा आनन्द में ही निमग्न रहेंगे। "भगवान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संबन्धी ये सब विचारणायें ज्ञानधारा रूप हैं और भगवान अधमोद्धारक हैं, उनकी पूजा व भक्ति मेरे लिये बड़ी हितकारी है। वे अपने आश्रितों को अपने समान कर लेते हैं" इत्यादि प्रकार का ज्ञान कर्मधारा रूप है।

इसी प्रकार यह विष्ठा नाम का एक पदार्थ है। इसका रंग पीला है, इसमें एक विशेष प्रकार की गंध है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है। यह पहले अन्न रूप थी। फिर यह खेतों में खाद रूप में डाली जाती है इत्यादि विष्ठा संबन्धी सर्वज्ञान ज्ञानधारा रूप है। परन्तु यह बहुत घिनावनी है, दुर्गन्धित है। इसे मेरे पास से हटाओ इत्यादि प्रकार का उसी विष्ठा संबन्धी ज्ञान कर्मधारा रूप है।

'यह युद्ध स्थल है। यहाँ अनेकों योद्धा परस्पर में लड़कर मृत्यु की गोद में सो जाया करते हैं। यह युद्ध सिकन्दर व पोरस के मध्य हुआ था' इत्यादि प्रकार का सर्वज्ञान ज्ञानधारा रूप है।

'आज का दिन बहुत गर्म रहा है', यह ज्ञानधारा रूप है। और इससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई है। गर्मी कुछ कम होती तो अच्छा था। यह कर्मधारा है और इस प्रकार अन्य भी। वास्तव में देखा जाये तो ज्ञानधारा बुद्धिपूर्वक के प्रयास द्वारा विचारणायें उत्पन्न करने रूप नहीं होती, क्योंकि ऐसा करने से तो वह सब ही ज्ञान कर्मधारा रूप बन जायेगा। वह तो केवल सहज प्रतिभास रूप है। जैसा-कैसा भी जिस-किसी भी वस्तु का प्रतिभास हो जाने पर मन की सब विचारणायें शांत हो जाती हैं तथा वह व्यक्ति कुछ उस प्रतिभास के साथ तन्मय होकर खोया-खोया सा महसूस करने लगता है। वह दशा कुछ अद्वैत सी होती है और इसलिए शांति रूप है। जितनी देर भी उसमें स्थिति रहती है मन की थकान नहीं होती बल्कि आनन्द में कुछ झूमता सा रहता है। परन्तु वहाँ से छूटकर यदि कर्मधारा में आ जाता है तो बुद्धि पूर्वक का प्रयास प्रारंभ हो जाने के कारण तब उसे उन्हीं विचारणाओं में थकान महसूस होने लगती है।

Gaṇesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२१. भेद ज्ञानीका सच्चा पुरुषार्थ

इस कथन पर से मानवीय पुरुषार्थ के दो रूप दर्शा दिये गये। उनमें से कर्मधारा रूप पुरुषार्थ तो सर्वलोक सदा से करता आ रहा है। शांति का उपासक इसे छोड़कर ज्ञानधारा रूप पुरुषार्थ का आश्रय लेता है और जीवन को तद्रूप ढालने का धीरे-धीरे प्रयत्न करता है। लौकिक और आध्यात्मिक पुरुषार्थ में यही अन्तर है। यद्यपि उसका बाह्य-जीवन तो एकदम वैसा होने नहीं पाता, परन्तु उसका दार्शनिक-जीवन जिसका आधार कि केवल श्रद्धा है अवश्य पल्टा खाता है और करने-धरने की या कारण-कार्य-भाव खोजने की टेव विराम पाती है। इस अभ्यास या प्रयत्न का नाम ही मोक्षमार्ग या शांति-मार्ग है। यद्यपि व्यावहारिक जीवन में इसकी कर्मधारा चलती रहती है पर दार्शनिक अन्तरंग-जीवन में सर्वत्र ज्ञानधारा व्याप्त हो जाती है। जिसके फलस्व-रूप वह सदा ही अपने बाह्य रागात्मक कर्मधारा वाले कृत्यों के लिए अपने को धिक्कारता हुआ बराबर अन्दर ही अन्दर उनसे पीछे हटने का तथा ज्ञानधारा में टिकने का प्रयास करता रहता है। ऐसी मिश्रित दशा उसकी उस समय तक चलती रहती है जब तक कि कर्मधारा का अभ्यास पूर्णतः शमन न हो जाये। यही व्यवहार व निश्चय मार्ग की मैत्री है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह दोनों को उपादेय मानता है। कर्मधारा रूप व्यापार करते हुए भी वह उसे सर्वथा अपराध ही समझता रहता है और ज्ञानधारा को सत्य ही समझता रहता है।

यह बात उस श्रद्धा या अभिप्राय की है जो बाहर में दृष्ट नहीं हो पाती, साधक के अन्दर ही अन्दर चुटकियें लिया करती है। जिसे वह स्वयं जान सकता है दूसरा नहीं। अन्य लौकिक प्राणी तो उसे पूर्ववत् ही कर्मधारा में उलझा हुआ देखते हैं, पर वह अन्दर ही अन्दर ज्ञानधारा में झुकता जाता है। कर्मधारा के अपने सर्व विकल्पों को निःसार व मिथ्या प्रपञ्च रूप अंगीकार करता जाता है। फिर भला वह कब अभिप्राय पूर्वक यह कह सकता है कि अमुक कार्य अमुक ने किया या अमुक कारण से हुआ। किसने किया ? स्वभाव ने। निमित्त का कोई स्थान ? हुआ करे या वह भी स्वाभाविक ही है। उसके देखने का ढंग बदल जाता है। लौकिक जीवों को भले उसकी बात अटपटी लगे, पर उसके लिये वह सत्य है। परम सत्य। विश्व की स्वतन्त्र व स्वाभाविक कार्य व्यवस्था वह प्रत्यक्षवत् देखता है। और इसलिये विरोध करने वाले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधारण अनभिज्ञ व अज्ञानी जनों के आक्षेपों पर वह मुस्करा देता है। वह जानता है कि सर्व साधारण जन इस रहस्य को समझ न सकेंगे। इसलिए वाद विवाद करना व्यर्थ समझता है। और केवल वीतराग गुरुओं को ही एकमात्र शरण समझता हुआ निर्भीक अपने मार्ग पर बढ़ता चला जाता है। ज्ञानधारा को पुष्ट करने वाले चर्चा ग्रस्त प्राणी उस चर्चा में उलझे पीछे पड़े रह जाते हैं। उनके प्रति उसे केवल मध्यस्थता ही रहती है। द्वेष या विरोध नहीं। क्योंकि वह जानता है कि ये बेचारे वस्तु स्वरूप या निमित्त-उपादान की बातें ही करना सीखे हैं, पर ज्ञानधारा में बैठ कर वस्तु-व्यवस्था को देखना नहीं। इसी कारण निश्चय या स्वभाव की बात कहते तो अवश्य सुने जाते हैं पर कर्मधारा की पकड़ छोड़ते नहीं देखे जाते। कर्मधारा का कांटा गले में अटका हुआ है। इसलिए व्यवहार से तो मेरा अहंकार या कर्तापना अथवा निमित्त कारण की सार्थकता रही। इस प्रकार की बात सामने आये बिना नहीं रहती। यह लक्षण ही कर्मधारा की ओर उनके अन्तरंग अभिप्राय या झुकाव के साक्षी हैं। यही कर्मधारा की अतीव वेदना है, जिसमें पड़ा समस्त जगत तड़प रहा है। क्या किया जाये यह भी स्वतन्त्र रीति से हो हो रहा है। सर्व जगत तो न कभी समझा है और न कभी समझ सकेगा। समझने वाले ही समझते हैं और वे विरले ही होते हैं। इसलिए उसे जगत की इस अहंकारपूर्ण बुद्धि पर केवल हँसी आती है और कुछ करुणा भी।

साधक के दार्शनिक विचार सदा ज्ञानधारा रूप ही रहते हैं। यदि विचारों में भी यह परिवर्तन न हुआ तो साधक काहे का? यदि लौकिक जीवों की भांति निमित्तों में ही कर्ता या कारणपना देखता रहा तो लौकिक जीवन में और उसमें अन्तर क्या रहा? दोनों का झुकाव ही कर्म-धारा की ओर रहा, भले ही बाह्य-क्रियाओं में अभी कर्मधारा के दर्शन होते हों, पर साधक के अन्तरंग अभिप्राय में ज्ञानधारा व्याप चुकी है। वह जो बात, चर्चा या उपदेश दार्शनिक या सैद्धान्तिक दृष्टि से करता है वह सब ज्ञानधारा की ओर झुककर ही करता है। इसलिये निमित्तों के कर्तापने या उसके अहंकार के लिये, वस्तु की स्वतंत्र कार्य-व्यवस्था के प्रतिपादन में, उसके द्वारा कोई स्थान स्वीकार नहीं किया जाता। भले ही कर्मधारा में जाने पर उनका भी कोई स्थान वहां दिखाई देता हो, पर ज्ञानधारा में तो सर्वकार्य स्वत: होते हुए ही दिखाई देते हैं। किसी के द्वारा किये जाते हुए नहीं, इस होनेपने में निमित्त भी अपना योग्य स्थान लेते हुए अवश्य दिखाई देते हैं। पर इस कल्पना को कहीं अवकाश मिलने नहीं पाता कि "यदि यह न होता तो यह हो जाता।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानधारा का कोई ऐसा अचिंत्य माहात्म्य है भले ही इसे एकान्त कहो पर साधक को यही सुन्दर लगता है। यह उसकी आन्तरिक साधना है। इसी साधना के आधार पर जल में कमलवत् वह संसार में रहता हुआ भी भिन्न रहता है। जिस प्रकार कि पुत्र की मृत्यु के एक महीने पश्चात् ही अपनी कन्या का विवाह करने वाला कोई व्यक्ति, बाहर में सब कुछ रावरंग करता हुआ भी अन्दर में रोने के सिवाय कुछ नहीं कर पाता। वह हंसता-बोलता अवश्य है, बाजा आदि भी बजवाता है, मिठाई भी बनवाता है, हंस-हंस कर अतिथियों का सत्कार भी अवश्य करता है पर अन्दर से नहीं बाहर से। इसका अन्तः-करण तो यह सब कुछ करता हुआ भी अपने पुत्र के शोक से विह्वल केवल रो ही रहा है। यह सब कुछ खेल-तमाशा मानों उसका गला घोट रहा है, ऐसा उसे प्रतीत होता है। उसी प्रकार शांति-पथ का साधक भी व्यापार आदि कार्य करता अवश्य है, भोगादि भी भोगता अवश्य है, पर अन्दर से नहीं केवल बाहर से, अन्दर से तो इन सब कार्यों को करते हुए वह रोता मात्र है, मानो वह सब कुछ आडम्बर उसके आन्तरिक-जीवन का गला घोट रहा है। लोक को वह अवश्य कुछ करता हुआ दीखता है, पर वास्तव में वह स्वय कुछ भी नहीं कर पाता। इसी को अरुचिपूर्वक करना कहते हैं। यही गीता का अनासक्ति योग है। यही जल में कमलवत् भिन्न रहने का अभिप्राय है। घर में रहते हुए वैरागी इसी का नाम है। लौकिक जन इस स्थिति को साधना का अन्त मानते हैं। पर वास्तव में अध्यात्म-मार्ग की साधना यहां से प्रारंभ होती है।

यह तो लौकिक दिशा की बात कही, धार्मिक दिशा में भी वह पूजा, उपवास, व्रत, उपदेश आदिक सब कुछ करता है; पर अन्दर से नहीं केवल बाहर से। इन कार्यों को वह इसलिये नहीं करता है कि ये सब कार्य उसे अच्छे या हितरूप लगते हैं। बल्कि इसलिये करता है कि ऐसा करते हुए उसे क्षण भर के लिये अधिक पुष्ट कर्मधारा से हटकर हीनाधिक रूप से ज्ञानधारा में प्रवेश पाने का अवसर मिल जाता है। वही ही वास्तव में उसके लिये अमृत है, हित है। जिस प्रकार अन्न खाने से प्राणों की रक्षा होती है और इसलिये अन्न को ही प्राण कहते हैं उसी प्रकार इन बाह्य धार्मिक क्रियाओं का आश्रय लेने से उपरोक्त अमृत या हित की प्राप्ति होती है इसलिये इन धार्मिक क्रियाओं को भी हित कहा जाता है परन्तु वास्तव में यह सब धार्मिक कार्य करना भी उसे अन्दर में अखरता है। कारण कि उन कार्यों को करने के सर्व विकल्प तो कर्मधारा रूप ही हैं। अतः उन विकल्पों को सदा त्याज्य मानकर उनसे भी पीछे हटने का प्रयत्न करता रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका यह अर्थ न समझ जाना कि इन धार्मिक क्रियाओं को सर्वथा अनिष्ट मानकर वह ही अन्य लौकिक कार्य तो करे, परन्तु इनको न करे। अभिप्राय ठीक-ठीक समझना। आगे भी आस्रव के प्रकरण में इन धार्मिक क्रियाओं के लिये निषेध का प्रकरण आयेगा। अतः यहां ही अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करें, अन्यथा तो अनर्थ हो जायेगा। ज्ञानधारा में उतरने की अतीव उत्कण्ठा के कारण वह उनको छोड़कर ध्यान निमग्न हो जाना चाहता है। यही उपरोक्त वक्तव्य का प्रयोजन है। उन क्रियाओं को छोड़कर लौकिक कर्मधारा में उलझना तो जीवन को ऐसे अन्धकूप में गिरा देगा जहां से कि निकलना अनन्तकाल में भी सम्भव न हो सकेगा। देव, गुरु, शास्त्र व उपरोक्त धार्मिक अनुष्ठान उस समय तक अत्यन्त आवश्यक हैं जब तक कि साक्षात् ज्ञानधारा की उपलब्धि हो नहीं जाती। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि अन्न खाने की उस समय तक अत्यन्त आवश्यकता रहती है जब तक कि इस शरीर के प्रति का किंचित भी राग हृदय में वास करता है। प्रत्येक बात पुनः दोहराई जानो सम्भव नहीं है अतः इसको यहां ही दृढ़तर हृदयंगम कर लेनी योग्य है। नहीं तो आगे के प्रकरणों में उल्टा अर्थ ग्रहण किये बिना न रह सकेगा। और यदि ऐसा हो गया तो प्रभु ही जाने क्या होगा? नाथ! ऐसी कुबुद्धि से रक्षा करो।

करना और बात है विचारना और। करने और विचारने में महान् अन्तर है। साधक की सर्व ही शुभ व अशुभ क्रियाओं का करना तो कर्मधारा रूप होता है पर विचारना ज्ञानधारा रूप। उसकी चर्चा का विषय भी ज्ञानधारा की ओर झुका रहता है, क्योंकि अन्दर से उसे वही भाती है। बाहर और अन्दर के इस महान् अन्तर को देखने में असमर्थ जगत उसकी चर्चा से आगम विरोध व एकान्त के दर्शन करता है पर उसे स्वयं को ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसे ही कहते हैं व्यवहार व निश्चय मार्ग की संधि। अन्दर व बाहर की क्रियाओं में यह अन्तर कैसे सम्भव है। इसका उत्तर आगे आस्रव वाले प्रकरण में बताया जायेगा।

यदि अन्दर व बाहर में यह अन्तर न हो तो केवल एक शुभाशुभ कर्मधारा में ही रहे या केवल एक शुद्ध ज्ञानधारा में ही रहे। परन्तु ये दोनों ही मोक्षमार्गी नहीं कहलाये जा सकते, केवल कर्मधारा वाला तो निःसंदेह संसारमार्गी है ही, परन्तु केवल ज्ञानधारा वाला भी मोक्षमार्गी नहीं है। वह तो स्वयं भगवान है। और या स्वच्छन्दाचारी ज्ञानवादी एकान्त दृष्टि अर्थात् या मोक्षरूप है। या घोर संसारी। जो स्वयं मोक्षरूप हो जाता है वह मोक्षमार्गी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं होता। मोक्षमार्गी के अन्दर के अभिप्राय में तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञानधारा का ही वास है, परन्तु बाह्य प्रवृत्ति में दो बातें दिखाई देती हैं—प्रत्यक्ष रूप से तो निषिद्ध बुद्धि पूर्वक शुभ व अशुभ कर्मधारा और परोक्ष या अदृष्ट रूप से आंशिक रूप से ज्ञान व कर्मधारा का मिश्रण। यह मोक्षमार्ग है। चौथे से बारहवें गुण स्थान तक अर्थात् नीचे से ऊपर तक की साधक दशा की श्रेणियों में उत्तरोत्तर ज्ञानधारा की ओर झुकता चला जाता है। यहां तक कि उसके अन्त में जाकर पूर्णतः ज्ञानधारा में निश्चल स्थिति पा जाता है। इस रहस्य को समझे बिना अध्यात्म चर्चा लाभ की बजाय हानि पहुँचाती है क्योंकि ऐसी अवस्था में वह वाद-विवाद रूप विजिगीषु कथा बन जाती है। वीतराग कथा रहने नहीं पाती।

❀

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२२. अद्वैत ब्रह्म

यद्यपि यमराज ने अनेकों प्रलोभन दिये पर जिज्ञासु बालक नचिकेतस के संकल्प को वह बदल न सका। सच्ची जिज्ञासा में अनन्त बल होता हैं। ब्रह्म ज्ञान जैसी दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति जिज्ञासा के बिना हो भी तो नहीं सकती। ब्रह्म ज्ञान की बातें करने वाले बहुत हैं परन्तु उसकी प्राप्ति करने वाले कितने हैं, यह प्रभु ही जानते हैं।

ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, सत् है, चित् है, आनन्द है, ऐसी बातें करने मात्र से क्या कोई उसका स्पर्श कर सकता है? "यह सर्व जगत स्वप्नवत् असत् है" ऐसा कहते हुए भी क्या उसके हृदय का समाधान हो सकता है? हृदय में तो यह संशय पड़ा ही रहता है कि यदि यह सब कुछ असत् है तो दृष्ट क्यों हो रहा है? यह सब माया का विकार है। भले ऐसा कहकर संतोष पा लें, परन्तु माया क्या और उसका विकार क्या, यह तो न जान पाया। समाधान हो तो कैसे हो? ब्रह्म सर्वव्यापी हैं। सर्वव्यापी होकर भी वह किस प्रकार नृत्य करता है, लीला करता है और प्रसन्न होता है, यह बात कैसे समझ में आये?

आओ इसका परिचय पाने का उपाय बतायें। यद्यपि बड़ी कठिन समस्या है, परन्तु प्रयत्न करते हैं। तनिक सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना। भैया! यह ब्रह्म विज्ञान है, साधारण भौतिक विज्ञान नहीं। भौतिक विज्ञान इन्द्रियों से अवधारित किया जाता है, पर यहाँ सूक्ष्म-दृष्टि के अन्तर-प्रयोग की आवश्यकता है। रूढ़ि अर्थ मात्र को जान लेने से काम न चलेगा। कुछ तर्क का प्रयोग भी इष्ट है। देख! जरा नीचे से ऊपर की ओर चल। यह एक गाय है, यह दूसरी गाय है और यह तीसरी, चौथी आदि। हैं तो सब गाय ही गाय। फिर पहली दूसरी व तीसरी को गिनने से क्या लाभ। गाय के गायपने को जान ले। व्यक्तिगत गाय तो आज है कल नहीं। परन्तु क्या गायपना भी ऐसा ही है? विवक्षित गाय रहे या जाये, पर गायपन कहाँ जाता है। वह तो ध्रुव है। गाय भले अनेक हो पर गायपना तो एक है। इस प्रकार गाय को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है— पृथक्-पृथक् गायों के रूप में और एक गोत्व के रूप में। इसी को व्यष्टि व समष्टि दृष्टि कहते हैं। पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को देखना व्यष्टि दृष्टि है और उन सब व्यक्तियों में व्याप्त या अनुस्यूत एक सामान्य भाव देखना समष्टि दृष्टि है। समष्टि रूप से देखने पर गोत्व एक है, नित्य है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्व गौओं में व्याप्त हैं। व्याप्ति रूप से देखने पर गाय अनेक हैं, अनित्य हैं, स्वतंत्र रूपेण पृथक् पृथक् हैं।

देखने का ढंग है किसी वस्तु को पृथक्-पृथक् अनेक रूप भी देखा जा सकता है और उसका एक अखण्ड व्यापक रूप भी। पृथक् देखने का काम इन्द्रियों का है। परन्तु एकत्व देखने का काम अन्तर्दृष्टि का है। एकत्व को देखने के लिये हम चाहें कि इन्द्रियों द्वारा उसका प्रत्यक्ष कर लें सो असंभव है। उसे देखने के लिये चर्म चक्षुओं की नहीं बल्कि अन्तर् चक्षुओं की आवश्यकता है। इसी दृष्टि से अध्यात्म का रहस्य जाना जा सकता है। गौओं की भाँति मनुष्यों में भी अनेकत्व व एकत्व देखा जा सकता है। देवदत्त व सूर्यदत्त को देखने पर वे अनेक हैं, पर मनुष्यता सामान्य में देवदत्त आदि नामों व रूपों को अवकाश कहाँ। मनुष्यत्व एक है नित्य है, सर्व मनुष्यों में व्याप्त है। इसी प्रकार घट पटादि जड़ पदार्थों के संबंध में भी जाना जा सकता है।

सभी दृष्ट व चेतन पदार्थों की पृथक्-पृथक् व्यक्तियें कितनी देर के लिये स्थिर रह पाती हैं? उन-उनकी अपनी-अपनी पूर्ण स्थिति में भी वे कितने रूप परिवर्तन करती हैं। बालक से युवा और युवा से वृद्ध। एक मरता है और एक जन्मता है। एक वस्तु टूटती है और दूसरी बनती है। कोई आ रहा है और कोई जा रहा है। इसके संबंध में क्या कहा जाये? इस प्रकार चंचल व्यक्तियों की सत्ता ही क्या? नाम मात्र को सत् हैं। झलक मात्र दिखा-कर विनष्ट हो जाने वाली हैं। इसलिये इन सबको मायाजाल समझो, प्रपंच समझो। इसको सत् रूप से देखने वाली दृष्टि भी चंचल व व्याकुल ही बनी रहती है। अतः ज्ञानीजन इस प्रकार की इन्द्रिय गम्य व्यक्तिगत सत्ताओं को स्वप्नवत् बताते हैं अर्थात् इनके आश्रय से होने वाली व्याकुलता से बचने का उपाय बताते हैं।

व्यक्ति को न देखकर समष्टि को देखें। समष्टि में भी गाय, मनुष्य, घट पट आदि को पृथक्-पृथक् क्यों देखते हो। इनके भी अन्दर उतर जाइये। गाय व मनुष्य में चित् मात्र को देखने पर गाय व मनुष्य का यह द्वैत कैसे ठहर सकता है, क्योंकि वह भी सच्चित् और वह भी सच्चित्। गोत्व व मनुष्यत्व तो उस सच्चित् के विकार मात्र से उत्पन्न होने वाले नाम और रूप हैं। इनकी क्या सत्ता? इन सबमें जो व्यापकर रहता है उस सच्चित् मात्र तत्त्व को देखिये, जो त्रिकाल एक है। अखण्ड है तथा नाम रूप कर्मों से अतीत है। ऐसी समष्टि में सच्चित् तथा सत् के अतिरिक्त यहां दिखाई ही क्या देता है? सच्चित् व सत् ऐसा द्वैत भी क्यों रहा है? सामान्य व अखण्ड रूप समष्टि में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वैत को अवकाश कहां ? कहा जा सकता है कि जो कुछ भी दृष्ट है वह सब नित्य, एक व अखण्ड सच्चित् के अवयव हैं उसके स्फुलिंग हैं। वास्तव में सच्चित् ही एक परमार्थ तत्त्व है। इसके भी अतिरिक्त जीवनमुक्त व नित्यमुक्त जीवों में क्या दिखाई देता है—सत्, चित् व आनन्द। सत्, चित् व आनन्द उसके अतिरिक्त उन मुक्त जीवों की पृथक् सत्ता समष्टि में कैसे दिखाई दे सकती है। पहले देखा था मात्र सत् चित्। अब उसमें आनन्द और मिल गया। सत् चित् व आनन्द में सब कुछ समा गया। घट पट आदि सत् मात्र हैं। मनुष्य आदि सत् व चित् हैं और मुक्त जीव सत् चित् व आनन्द है।

इस प्रकार से देखें तो बताइये, यह समस्त विश्व सत् चित् व आनन्द इन तीन के अतिरिक्त क्या है ? समष्टि की व्यापक दृष्टि में तो चित् भी खटकता है। अतः वह तो एक अखण्ड नित्य सच्चिदानन्द पान मात्र तत्त्व है। समस्त ब्रह्माण्ड सच्चिदानन्द रूप है। इसे ही ब्रह्म कहिये। उत्पन्न हो-होकर विनशने वाले ये समस्त जड़ और चेतन पदार्थ उसी के अंगोपांग हैं। अंगों के बिना अंगी किसे कहें ? डाल, पत्ते, फूल व फलों के बिना वृक्ष किसे कहें ? पर जिस अद्वैत दृष्टि में एक वृक्ष ही देखा जा रहा है वहां डाली आदि का विकल्प उठाने की आवश्यकता भी क्या। क्योंकि वह वृक्ष है ही उस रूप। इसी प्रकार अद्वैत सच्चिदानन्द ब्रह्म के विचार में जड़ व चेतन आदि पदार्थों के विकल्प की आवश्यकता ही क्या, क्योंकि वह है ही उन रूप।

इस प्रकार की अद्वैत रूप समष्टि ही ब्रह्मवाद का आधार है। अब इसका कितना ही विस्तार कर लीजिये। जैन दार्शनिक इस दृष्टि को द्रव्यार्थिक-दृष्टि के नाम से कहते हैं। निराकुलता की प्राप्ति के लिये ऐसी अद्वैत दृष्टि ही उपादेय है। व्यक्तिगत द्वैत-दृष्टि नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२३. अध्यात्मसार

(जैन दर्शन व वेदान्त दर्शन)

भारत सदा से आध्यात्मिक देश रहा है। इसको गर्व है अपने ऋषियों पर जो सदा अन्तरंग जगत में वास करते थे और भारतीय समाज को भी अन्तरंग की ओर झुकाकर किसी एक ऐसी विचित्र भूमि का दर्शन कराते थे, जिससे कि वह कृतकृत्य हो जाती थी। आज यद्यपि यह देश अपने उस ऋषि प्रणीत आदर्श को भूल कर विदेशों की भौतिकता से अंधा हुआ अपने विनाश की ओर दौड़ा चला जा रहा है, परन्तु फिर भी ऋषियों की धीमी-धीमी आवाज सजग प्रहरी बनकर अपनी उस अमूल्य संस्कृति की रक्षा कर रही है।

इस भूमि पर उत्पन्न हुआ मनुष्य किसी भी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता हो, इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकता कि हम सभी के जीवन का एकमात्र लक्ष्य है—सुख की प्राप्ति। सुख की प्राप्ति का अर्थ है दुःख का अभाव। इसी लिए उपरोक्त प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ दुःख का ज्ञान होना आवश्यक है। यद्यपि अध्यात्मप्रकाश विहीन व्यक्ति सरदर्द, ज्वर आदि शारीरिक दुःखों को ही दुःख मानता है और इसीलिए उसको दूर करने के लिए उसका प्रतिकार भी करता है, परन्तु आध्यात्मिक जन शारीरिक दुःखों को दुःख नहीं गिनते और न ही उनका प्रतिकार करने का विशेष प्रयास करते हैं। दुःख व सुख जो कुछ भी खोजना है, वे अन्तरंग में खोजते हैं और उसका प्रतिकार भी वे अन्तरंग में ही करते हैं।

उनकी दृष्टि में मानसिक दुःख ही वास्तविक दुःख है। जिसके कारण मानव सदा चिन्ताग्रस्त रहता है। सारा जीवन कमाने-खाने के पीछे दौड़-धूप करता हुआ गँवा देता है। इसके ही कारण उसके जीवन में से हास विलुप्त हो जाता है तथा उसे क्षण भर नींद नहीं आती, विश्राम नहीं मिलता और यहाँ तक कि अपने बच्चों के साथ भी एक क्षण प्रेमपूर्वक बोलने का भी उसको अवकाश नहीं। भौतिक-दृष्टि उसे ही जीवन समझती है, पर आध्यात्मिक-दृष्टि तो इस सब प्रपंच से अतीत किसी शान्त सुन्दर व आनन्दपूर्ण जीवन को खोजने में संलग्न रहती है।

वह सदा यह विचारती रहती है कि मेरा तथा मेरे सहवर्ती अन्य जिज्ञासुओं का यह उपरोक्त महान् संकट कैसे टले ? कारण के बिना कोई भी कार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता नहीं देखा जाता, अतः इस दुःख का भी अवश्य कोई न कोई कारण होना चाहिए। यदि कारण का पता चल जावे तो फिर इस दुःख का प्रतिकार भी सहल हो जायेगा। क्योंकि कारणको दूर करने पर कार्य स्वतः समाप्त हो जाता है। जैसे कि अग्निको शांत कर देने पर धुँआ स्वतः शांत हो जाता है। अग्नि को बुझाये बिना पंखे आदि की सहायता से भी जिस प्रकार धुंएँ से आप अपनी आँखों की रक्षा नहीं कर सकते उसी प्रकार दुःख का कारण दूर किये बिना धन व भोग्य पदार्थों के अनेक भौतिक-साधनों से भी आप उस महान् संकट से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। भले ही सारा जीवन प्रयास व्यर्थ रहे।

अब प्रश्न यह है कि दुःख का कारण क्या है? सो वेदान्त की परिभाषा में कहें तो शरीर-त्रय अर्थात् तीन शरीर—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ही दुःख के प्रधान कारण हैं। और जैन परिभाषा में कहें तो नोकर्म, द्रव्यकर्म व भावकर्म ही दुःख के प्रधान कारण हैं। उपरोक्त तीन शरीर व ये तीन प्रकार के कर्म एकार्थवाची हैं। तहाँ स्थूल शरीर तथा नोकर्म तो यह पंच भौतिक शरीर है। जो सर्व प्रत्यक्ष है। सूक्ष्म शरीर या द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म या क्षयोपशम जन्य चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन १० इन्द्रिय व आन प्राणादि पांच प्राण इन १९ तत्त्वों रूप है। और कारण शरीर या भावकर्म कहते हैं—अविद्या या मोहजनित औदयिक भाव को, जिसके कारण कि व्यक्ति अनित्य अशुचि व जड़ शरीर तथा इसके भोग्य विषयों को नित्य, शुचि व चेतन मानता हुआ वर्तन किया करता है।

आपका एक मकान है, जिसमें आप स्वयं रहते भी नहीं हैं, किराये पर चढ़ा है। तनिक सी टूट-फूट हो जाने पर आप उसकी तुरन्त मरम्मत कराते हैं तथा उसकी रक्षा के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। आज वह बिक गया है। उसे किरायेदार ने खरीद लिया है। रात्रि को आपको पता चला कि मकान में आग लग गयी, परन्तु आपको कोई चिन्ता न हुई। अब आप उसकी रक्षा के लिए अपनी निद्रा त्यागने को तैयार नहीं। आप ही बताइए क्या अन्तर पड़ गया? आप भी वही हैं मकान भी वही है और रहने वाला भी वही है। पहले तो उसकी एक ईंट निकलने पर मानों आपके शरीर की हड्डी ही निकल रही थी और अब उस समूचे में आग लगने पर भी यह आपके लिए साधारण घटना है। मकान बिक गया है यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि वह तो अब भी वहीं है जहाँ पहले था। तब बिका क्या? भैया! मकान नहीं बिका बल्कि बिकी मेरेपन की कल्पना। आपने यह बीमारी बेच दी और दुःख से मुक्त हो गये, उधर किरायेदार ने यह बीमारी खरीद ली और जंजाल में फंस गया। सारांश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह है कि सर्व ही भौतिक व प्राकृतिक पदार्थों में जो यह अहं बुद्धि बैठी है वही वास्तव में दुःख का मूल कारण है।

अब प्रश्न यह कि इसका प्रतिकार क्या ? जहाँ रोग होता है वहाँ ही प्रतिकार का प्रयोग होता है। वस्त्रों को औषध पिलाने से शरीर का रोग नहीं जा सकता। जिस प्रकार दुःख या रोग आध्यात्मिक है, उसी प्रकार उसका प्रतिकार भी आध्यात्मिक ही होना चाहिए। दुख का मूल स्रोत है अन्तष्करण और इसलिए इसे दूर करने का उपाय भी अन्तष्करण में ही होना चाहिए।

अन्तष्करण है ज्ञान के विकल्परूप, इसीलिए वह प्रतिकार भी ज्ञानके विकल्परूप होना चाहिए। ज्ञान ज्ञेय सापेक्ष होता है, परन्तु विकल्प द्वारा हम ज्ञेय को जैसा चाहें वैसा देख सकते हैं। साधारण दृष्टि इस जगत की सत्ताको द्वैत या भेदरूप देखती है। और वेदान्त दृष्टि उसे अद्वैत व अभेद रूप देखती है। यहाँ मतभेद खड़ा होकर परस्पर में झगड़ने लगता है कौन आँखों वाला जागृत व्यक्ति इस माइक्रोफोन या एम्लीफायर की सत्ता से इन्कार कर सकता है ? आप अपने सिद्धान्त पर, अपने गुरुओं पर तथा वैदिक श्रुति पर दृढ़ श्रद्धान करने के कारण भले आप यह कहते रहें कि एक ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ कुछ नहीं, जो कुछ है वह स्वप्न मात्र है इत्यादि। परन्तु तनिक अपने हृदय पर हाथ रखकर देखिए कि क्या ये सब दृष्ट पदार्थ असत् या स्वप्न मात्र हैं ? आपका हृदय वास्तव में इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए आपका यह विश्वास साम्प्रदायिक है वास्तविक नहीं।

तो क्या "सर्वं खल्विदं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" वाली यह अत्यन्त प्रसिद्ध श्रुति मिथ्या है ? नहीं, भाई ! यह श्रुति मिथ्या नहीं और इन पदार्थों की सत्ता और भी मिथ्या नहीं। आप सोचते होंगे कि दोनों विरोधी बातें कैसे सम्भव हैं, परन्तु यह कोई भी बात विचित्र नहीं है। यदि आपको कदाचित् जैन दर्शन की अकाट्य स्याद्वाद युक्ति का किंचित् भी परिचय हुआ होता तो आपको किंचित् भी आश्चर्य न हुआ होता। दृष्टि भेद से एक ही पदार्थ को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है।

इसी बात को गीता में बड़े सुन्दर ढंग से बताया गया है। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू मेरे व्यापक रूप को इन चर्म चक्षुओं से न देख सकेगा, ले मैं तुझको दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, उसके द्वारा देख। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि इन इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ की व्यावहारिक व प्रातिभासिक सत्ता का बोध होता है, पारमार्थिक का नहीं। यदि इस विश्व की पारमार्थिक सत्ता का बोध करना है तो समस्त इन्द्रियों को बन्द करके केवल अन्तरंग ज्ञान चक्षु का आश्रय ले, इस ढंग से देख जैसा कि मैं बताता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखिये सामने एक बड़ा बन है आइये इसमें घुसकर अत्यन्त निकट से देखें। क्या दिखाई देता है ? पृथक्-पृथक् वृक्ष कोई आम का, कोई नींबू का और कोई ढाक का, कोई हरा और सूखा। किसी को फलों से लदा देखकर मुंह में पानी आता है और किसी की तरफ देखने को भी रुचि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि निकट से देखने पर आप केवल पृथक्-पृथक् वृक्षों को ही देख पाते हैं, अखण्ड को नहीं। भले ही सौ पचास वृक्षों को देखकर आप यह कह दें कि मैंने बन देखा था, वास्तव में आपने बन देखा ही नहीं। आइये इससे आधा मील दूर चलकर देखें। क्या दिखाई देता है ? एक बड़ा बन। कौन-सा वृक्ष सुंदर और कौन-सा असुन्दर ? कौन-सा हरा और कौन-सा सूखा ? इस बन की किस दिशा में देखने से मुंह में पानी भरता है और किस दिशा में देखने से घृणा होती है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर अब कैसे दिया जा सकता है, क्योंकि यहाँ पृथक्-पृथक् वृक्षों की सत्ता है ही कहाँ ? यहाँ तो एक अखण्ड बन है जो सब वृक्षों का ऐक्यरूप है। यह एक है तथा सुन्दर है इसमें असुन्दर कुछ भी नहीं। जिस प्रकार हरे वृक्ष इसको सुन्दरता प्रदान करते हैं इसी प्रकार ठूंठ भी इसकी सुन्दरता में चार चाँद लगाते हैं। यहाँ पर जो स्थान व मूल्य फूलों की सुगन्ध का है, वही स्थान विष्ठा की दुर्गन्ध का है या यह कहिये कि यहाँ न हरे वृक्ष हैं न सूखे, न सुगन्धि है न दुर्गन्धि। यहाँ तो केवल एक अखण्ड बन है जो स्वतः सुन्दर है। निकटवर्ती संकीर्ण दृष्टि से देखने पर यह द्वैतरूप दीखता है और दूरवर्ती व्यापक दृष्टि से वही अद्वैत-सा दिखता है। वृक्षों से पृथक् बन और बन से पृथक् वृक्ष कोई चीज नहीं। इसी प्रकार समष्टि रूप से समस्त विश्व को देखने पर घट पट आदि पदार्थों की व्यक्तिगत संज्ञायें असत् होकर रह जाती हैं। इस समष्टि को ही 'ब्रह्म' ऐसा नाम दिया गया है, जिसमें चित् व अचित् सब समष्टि है। जैन परिभाषा में इसे महासत्ता कहते हैं।

अब अद्वैतसत्ता में द्वैत सत्ता देखने का ढंग बताते हैं। देखिये प्रत्येक त्योहार के अवसर पर इस नगर में मेला लगता है आप मेला देखकर आते हैं और कहते हैं कि मेला बहुत अच्छा लगा, इसी प्रकार सभी व्यक्ति बारी-बारी से कहते हैं कि मेला बहुत अच्छा लगा। अच्छा ठीक है मेला देखने वाले आप सभी व्यक्ति पृथक्-पृथक् खड़े हो जाओ और अब मुझे बताओ कि वह मेला आपको कैसा दिखाई देता है ? और आप हँस पड़ेंगे कि अब तो यहाँ शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहा। वहाँ तो अभी धूल उड़ती है। मेला अब रह ही कहाँ गया ? अतः सिद्ध हो गया कि आप मेला देखने वालों से पृथक् उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसी प्रकार घट पट आदि चित् अचित्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थों की व्यष्टिगत सत्ता से अतिरिक्त पूर्वोक्त समष्टि या ब्रह्म की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जैन परिभाषा में इसे अवान्तर सत्ता कहते हैं।

जिस प्रकार पहले (ऊपर) के दृष्टान्त में अखण्ड बन रूप समष्टि से भिन्न व्यष्टि की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं उसी प्रकार इस दृष्टान्त में व्यष्टि से रहित समष्टि की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। दोनों ही दृष्टियें सत्य हैं। जैन परिभाषा में पहले को कहते हैं शुद्ध संग्रह या निश्चय अभेद दृष्टि और दूसरी को कहते हैं व्यवहार या भेद दृष्टि।

यद्यपि अपने-अपने स्थान पर दोनों ही दृष्टियें ठीक हैं, पर प्रश्न तो है दुख-निवृत्ति के उपाय का। कौन-सी दृष्टि का प्रयोग करें कि दुख से छुटकारा मिले ? स्पष्ट है कि समग्र को ग्रहण न करने के कारण द्वैत दृष्टि में अज्ञान रहता है। जिसके कारण नवीन-नवीन जानने की इच्छा होती है। और उसके कारण वह दृष्टि एक पदार्थ पर से दूसरे पर और दूसरे पर से तीसरे पर संक्रान्त होती रहती है। दृष्टि की इस चंचलता के अतिरिक्त कोई पदार्थ रुचिकर व कोई अरुचिकर प्रतीत होने के कारण वहाँ निरन्तर राग-द्वेष रूप कारण बना रहता है। इसीलिये भले ही इस दृष्टि से देखने पर जगत की द्वैत सत्ता सत्य हो, परन्तु दुख-निवृत्ति के क्षेत्र में यह त्याज्य है।

दूसरी ओर अद्वैत दृष्टि से देखने पर क्योंकि युगपत् समग्र दिखाई देता है इसलिये वहाँ न दृष्टि की चंचलता को अवकाश है और न राग-द्वेषात्मक कारण शरीर का उदय। इसलिये यदि इस दृष्टि से विश्व की अखण्ड सत्ता को देखें तो कारण शरीर या मोहभाव उदित नहीं होता, जिस पूर्वक होने से क्षायोपशमिक भाव रूप सूक्ष्म शरीर नहीं होता और तिस पूर्वक होने से यह स्थूल शरीर भी नहीं होता। शरीर-त्रय से छुटकारा होने से दुख निवृत होता है। अतः इस-इस दृष्टि में यह दृष्टि ही सत्य व उपादेय है। इसी प्रयोजन के अर्थ वेदान्त दर्शन में शुद्ध संग्रह दृष्टि को भूतार्थ और व्यावहारिक दृष्टि को अभूतार्थ कहा गया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं करना चाहिये कि जगत की सत्ता गधे के सींग की तरह असत् व स्वप्न है। प्रयोजन-वश भले उसे असत् कहिये, परन्तु वस्तुतः जिस प्रकार जैन दर्शन व्यवहार दृष्टि से उसे भूतार्थ मानता है उसी प्रकार वेदान्त दर्शन भी उसकी प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत्ता अवश्य स्वीकार करता है। विभिन्न वक्तव्यों के अभिप्राय पर ध्यान देने से आचार्यों के वाक्यों में विरोध का प्रतिभास तिरोभूत हो जाता है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४. अनेकान्त महिमा

जैन गजट २२ नवम्बर १९६२

अनुपम है अनेकान्त की महिमा-जिसका परिकर है साम्यता, व्यापकता, उदारता, सरलता, जीवनशीलता, हृदय का अपना प्रकाश, हर्ष, उल्लास, प्रेम व सर्वसत्व मैत्री। जिसकी झलक मात्र ही सहन करने की शक्ति, अभिमान, कटुता, पक्षपात, द्वेष, अविनय भावादि जैसे महाभट दानवों में नहीं है।

पवित्र वस्तु का आवास भी पवित्र ही होना चाहिये, अतः इस महिमावन्त तेज का आवास भी पवित्र हृदय में ही सम्भव है। वह पवित्रता जो पक्षपात तथा अन्य कालिमाओं को धोये बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। जिस हृदय में पक्षपात का निवास है वह हृदय शुष्क है। अभिमान की दाह से झुलसता हुआ वह हृदय वास्तव में हृदय नहीं शून्य है। हृदयधारी की भावनाओं का वहां सर्वथा अभाव है। वह झुकना नहीं जानता, गुणीजनों को देखकर भी उसमें विनय व प्रमोद जागृत नहीं होता। किसी की बात सुनने तक की भी उसमें क्षमता नहीं रह जाती। अपने प्रशंसकों में रहकर ही वह प्रसन्न रहता है। वह प्रशंसा झूठी है या सच्ची इस बात की उसे परवाह नहीं, उसका अपना जीवन इस दुष्ट पक्षपात के कारण विनाश की दिशा में जा रहा है। अन्य भी अनेक जीवनों को वह विनाशकारी गर्त में ढकेल रहा है, यह विचारने का भी उसे अवकाश नहीं। अपने हित की बात भी उसे अहित भासती है और मजे की बात यह है कि स्पष्ट रूप से या सर्वलक्षण देखकर भी वह अपने रूप को पक्षपात वाला स्वीकार नहीं करता। अपने को सभ्य तथा दूसरों को पक्षपाती समझता रहता है। इस दुष्ट पक्षपात को ही आगम भाषा में एकान्त कहते हैं। पक्षपात का न होना ही अर्थात् साम्य व सरल दृष्टि का होना ही अनेकान्त है।

जैन दर्शन अनेकान्त प्रधान है। इसीलिये इस धर्म को स्वीकार करने वाले सर्व ही जैन अनेकान्तवादी होने चाहिये। 'अनेकान्त क्या है?' इस बात को समझे बिना जैन कुल में उत्पन्न होने मात्र से ही क्या अनेकान्त सिद्धान्त की स्वीकृति कही जा सकती है? नहीं। बिना समझे अनेकान्तवादी होने का गर्व करना मिथ्या है। अनेकान्त जो अन्तरंग का एक निर्विकल्प भाव है, जो न जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुल से संबंध रखता है और न ही प्रशंसकों की विशाल टोली से, वह न विद्वत्ता में निहित है और न कठिन त्याग व तपश्चरण में।

अनेकान्त पढ़ा जा सकता है, जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, परन्तु उसकी कुछ आकृति होती हो ऐसा नहीं। मैं या कोई अन्य व्यक्ति अनेकान्तवादी है, इस बात की परीक्षा की जा सकती है, परन्तु किसी को भी उपाधि रूप से प्रदान नहीं की जा सकती। परीक्षा होती है अपनी धारणाओं पर से तथा जीवन की वृत्तियों पर से। यदि दूसरे की बात को सुनने व समझने के प्रति उल्लास नहीं है, उसके अभिप्राय को जानने का प्रयत्न किये बिना उसके शब्दों को ही पकड़कर उसे वादित्व कला द्वारा नीचा दिखाने में ही अपना गौरव समझता है, अपने पक्ष की क्षति को सहन नहीं कर सकता तो समझिये कि वहां हजरत पक्षपात अवश्य बैठे हुए हैं। इस प्रकार के हृदय में प्रेम व सर्व सत्व मैत्री कैसे प्रवेश पा सकती है? वहां तो मैत्री की बजाय होती है कटुता, जिसकी उपज है यह सर्व सम्प्रदाय, जो परस्पर में लड़ने व झगड़ने में ही अपना गौरव समझते हैं। वीतराग मार्ग में ऐसी कटुता को अवकाश कहां?

अनेकान्त की स्वीकृति के बिना साम्यता होनी असम्भव है। अपेक्षावाद कहो, अनेकान्तवाद कहो, स्याद्वाद कहो, समन्वयवाद कहो, सब एकार्थवाची हैं। आइंस्टीन की Theory of Relativity भी इस अनेकान्त का ही आधुनिक रूप है। किसी वस्तु को या किसी के भाव को अनेकों भिन्न-भिन्न दृष्टियों या अभिप्रायों से पढ़ा जा सकता है। जिस पर कुछ भी नियन्त्रण लागू नहीं किया जा सकता। इसलिये जो कुछ भी कहा सुना या समझा जाता है वह किसी एक दृष्टि से (Point of view) ही ठीक कहा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति जो भी उस बात को सुनेगा समझेगा, वह उसी रूप से सुनेगा समझेगा, अन्य रूप से नहीं। यह तो उस व्यक्ति विशेष की धारणाओं व रुचि आदि पर निर्भर है कि वह उस बात में से क्या तथ्य निकाले। आज के युग की अणु शक्ति में कोई जगत का विनाश देख रहा है और कोई एक नये जगत की कल्पना करता है। एक ही नियम कैसे किया जा सकता है? यद्यपि ये दोनों धारणायें परस्पर विरोधी हैं परन्तु क्या वे असत्य हैं? नहीं, दोनों ही धारणायें सत्य हैं यदि उस-उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखा जाये तो। यदि एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की भावना नहीं है तो अवश्य दोनों व्यक्तियों में झगड़ा हुए बिना न रहेगा।

बस यही हो रहा है, आज के साम्प्रदायिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में। सौ पचास प्रशंसकों की टोली इकट्ठी हुई और मैं समझ बैठा अपने को सर्वज्ञ। दूसरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की दृष्टि की अवहेलना करने में ही मानने लगा अपना व ज्ञान का गौरव। बिल्कुल उल्टी बात है भाई ! ज्ञान की महिमा दूसरे की अवहेलना करने में नहीं, बल्कि उसकी बात को ठीक-ठीक उसके ही दृष्टिकोण से समझने में है। यदि ऐसा करे तो आश्चर्य होगा यह जानकर कि जो कुछ भी कोई कह रहा है इसमें कुछ न कुछ सार अवश्य है। सर्व ही सत्यों का निषेध करने की बजाय उनका संग्रह करने की आदत डाले तो ज्ञान बढ़ता चला जाये और पता चल जाये कि ज्ञान संबंधी मेरे अभिमान में कितना दम था।

पक्षपात ज्ञान के मार्ग में सबसे बड़ी अड़चन है, जिसके कारण दृष्टि संकीर्ण बनी रहती है। अनेकान्त दृष्टि विश्वव्यापी वह प्रकाश है जिसमें सब पड़ा है। वह उदार है, व्यापक है। उसमें विधि भी है और निषेध भी। उसमें वस्तु का अन्तरंग रूप भी है और बाह्य रूप भी, उसमें अद्वैत भी है और द्वैत भी, उसमें एकता की भी स्वीकृति है और अनेकता की भी, वह नित्य को भी स्वीकार करती है और अनित्य को भी, उपादान को भी स्वीकार करती है और निमित्त को भी, निश्चय को भी स्वीकार करती है और व्यवहार को भी। सब ही बातें अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं, परम सत्य। मूल्यवान हैं, अत्यन्त मूल्यवान बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक बड़ी मशीन में एक बड़ी गरारी का अपने स्थान पर जितना मूल्य है, एक छोटी सी कील का भी अपने स्थान पर उतना ही मूल्य है, भले ही अपने स्थान से हटने पर उसका कुछ मूल्य न रह जाये।

सब ही बातों के मूल्य का यह अर्थ भी नहीं कि वे सब ही बातें हर क्षेत्र में हर काल व हर प्रयोजन में समान स्थान रखती हों। प्रयोजन विशेष की अपेक्षा देखने पर उसमें से कुछ बातें उपयोगी तथा कुछ अनुपयोगी सिद्ध होती हैं, कुछ उपादेय और कुछ हेय सिद्ध होती हैं। जानना या उपादेय रूप से ग्रहण या प्रयोग करना दूसरी बात है। जानने में कोई भी वस्तु निषिद्ध नहीं है, परन्तु प्रयोग करने में किसी व्यक्ति के लिये कोई और किसी के लिए कोई। जैसे नगर में जानने योग्य बातें सब हैं—मांस की दुकान भी व मिष्ठान की दुकान भी, बूचड़खाना भी और देव मन्दिर भी, वेश्या का निवास स्थान भी और अपनी बहिन का निवास स्थान भीं, परन्तु इनमें सब ही पदार्थ सबके लिये उपयोगी नहीं। धर्मात्मा व्यक्ति के लिये मिष्ठान की दुकान, देवमंदिर व अपनी बहन का स्थान ही उपयोगी है और व्यभिचारी के लिए मांस की दुकान, बूचड़खाना व वेश्या का निवास स्थान ही उपयोगी है।

अतः शास्त्रों में तत्त्व का विवेचन दो पद्धतियों से किया जाता है—१ आगम पद्धति, २ अध्यात्म पद्धति से। आगम पद्धति केवल स्वरूप का परिचय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देने के लिये हैं और अध्यात्म पद्धति मोक्षमार्ग के पथिक को हेयोपादेय का विवेक कराने के लिये है, दोनों का अभिप्राय भिन्न-भिन्न हैं। पहली पद्धति में किसी बात का भी निषेध नहीं और अध्यात्म पद्धति में अभेद व अन्तरंग तत्त्व का स्वीकार तथा उससे विपरीत भेद व बाह्य तत्त्व का निषेध हैं। दोनों ही पद्धतियों व उनके अभिप्रायों से ठीक-ठीक प्रकार से ही तत्त्व को समझना व समझाना चाहिये। कथन क्रम में दोनों ही दृष्टियों को साथ रखना चाहिये ताकि श्रोताओं को भ्रम उत्पन्न न हो जाये तथा वे पक्षपात के चक्कर में पड़कर अपना अहित न कर बैठें। धार्मिक विषय संबंधी प्रवचन करते समय, अपने पक्षपात को बिल्कुल पीछे हटा लेना चाहिये, जिस प्रकार से अपना व दूसरों का हित हो उसे ठीक-ठीक पहचान कर ही कुछ कहना या लिखना श्रेयकर है।

दूसरे के प्रश्न में किये हुए उसके अभिप्राय को पढ़कर उसकी काट करने की वजाय समन्वय करने में ही अनेकान्त का सार छिपा है। यही साम्यता, सरलता, प्रेम आदि सद्गुणों का आदर्श है। भाई! अब अभिमान, एकान्त और कटुता को छोड़कर दृष्टि की व्यापकता में सरलता को अपना, अनेकान्त की शरण में आ और इसी में तेरा हित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तरार्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. शांति मार्ग

(अध्यात्म मार्ग)

मानव जिस कुल में उत्पन्न होता है, उस ही कुल में प्रचलित कुछ साम्प्रदायिक मान्यताओं का आश्रय करके धर्म मान लेता है परन्तु धर्म के वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ वह सदा धर्म से वंचित ही रहता है। धर्म का रहस्य वास्तव में सम्प्रदायों के अधीन नहीं है। वह एक स्वतन्त्र भाव है तथा प्राणीमात्र का सामान्य जन्म-सिद्ध अधिकार व कर्तव्य है। कर्तव्य इसीलिए नहीं है कि उसकी कुल परम्परा से चला आता है, बल्कि इसलिये है कि वह उसके जीवन का सार है। क्योंकि उस धर्म से निष्पन्न होता है उसके जीवन का माधुर्य व सौंदर्य अर्थात् शान्ति जो जीव मात्र की आन्तरिक माँग है और इसीलिए धर्म कृत्रिमताओं में नहीं बल्कि स्वभाव में छिपा है। जो प्राणी उसे अपने स्वभाव में डुबकी लगाकर खोज निकालता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है उसका जीवन पलट जाता है। सर्व लौकिक कर्तव्य उसके लिए अकर्तव्य हो जाते हैं। लौकिक पुरुषार्थ उसके लिए हेय बन जाता है। इन्द्रियों द्वारा दीखने वाले सर्व चेतन व अचेतन पदार्थ उसकी दृष्टि में निस्सार भासने लगते हैं उनमें होने वाले अच्छे-बुरे व मेरे-तेरे आदि के विकल्प शांत होते चले जाते हैं। फलस्वरूप उसकी नित्य की करने-धरने, बनाने-बिगाड़ने, मिलाने व पृथक् करने आदि के विकल्पों में रंगी हुई जीवन की भाग-दौड़ विराम पाने लगती है। चिन्तायें दबती चली जाती हैं। जीवन का भार हल्का प्रतीत होता है। एक अलौकिक शान्ति का स्वाद आने लगता है जो उसे कृतकृत्यवत् कर देता है।

यही है आन्तरिक सौंदर्य की एक झलक जिसके एक क्षण मात्र के दर्शन से उसके हृदय में स्वभावतः ही एक प्रेरणा जागृत हो उठती है कि भो चेतन ! आज तक व्यर्थ ही बाहर की इस भाग-दौड़ में व्यग्र हुआ, अन्धों की भाँति उसमें से अपना सुख खोजने का प्रयत्न करता रहा और इस प्रकार सदा ही व्यग्रताओं व चिन्ताओं में कमी करने की बजाय उनमें वृद्धि करता रहा। आज गुरुदेव के संकेतों द्वारा अपने हित को पहचान कर भी क्या तू वही कुछ करता रहेगा। क्या अपने जीवन का दौर न बदलेगा। गुरुदेव के लिए नहीं-अपनी शांति के लिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ से प्रारम्भ होती है उसकी धार्मिक जीवन एवं शान्ति पथ की यात्रा। आज से वह हर क्रिया जो-जो चिन्ता व विकल्प उत्पन्न करने वाली है उसकी दृष्टि में अधर्म भासती है और शांति उत्पादक हर क्रिया उसे धर्म रूप भासती है। शांति पथ का यह बाल पथिक स्वतन्त्र रीति से एकदम विकल्पादि रूप अशांति को दबाने में जब अपने को असमर्थ पाता है तो किसी कृत्रिमता का आश्रय लेना ही कुछ समय के लिए श्रेयकर समझता है। निराकार शांति को अपनी कला द्वारा पाषाण आदि भौतिक पदार्थों में साकार रूप बना डालता है अर्थात् किसी एक पूर्ण शांत व्यक्ति की काल्पनिक आकृति को छैनी द्वारा पाषाण में प्रतिबिम्बित करके उसमें देवत्व की कल्पना करता है, क्योंकि शांति के पथिक का आदर्श शांतिमय ही होना चाहिए। आदर्श का नाम ही देव है।

भले पाषाण की मूर्ति हो, पर उसकी नासाग्र व निष्परिग्रह आकृति पर से कल्पनाओं के आधार पर निश्चिन्तता, साम्यता, सरलता, माधुर्य व शांति को पढ़ने का प्रयत्न करता हुआ वह उसे साक्षात् जीवित भगवान के रूप में देखने लगता है। एकटक उसकी ओर निहारते हुए तथा चित्त को उसकी शांति की ओर आकर्षित करते हुए वह कुछ देर के लिए भूल जाता है समस्त ऐहिक विकल्पों को और खो जाता है उस प्रभु की शांत मुस्कान में अर्थात् अपनी शांति में, यही बन जाता है उसकी उपासना का अलौकिक ढंग। यद्यपि शांति के दर्शन व उपासना का यह ढंग कृत्रिम है तथा साधारणतः विचार करने पर निस्सार तथा पाषाण मात्र की उपासना भासता है, परन्तु अनुभव करने पर इसमें-से एक अलौकिक रस आता प्रतीत होता है। कल्पनायें निरी कल्पनायें नहीं होती, बल्कि उनके साथ एक स्वाद रहता है। जिस प्रकार काल्पनिक पोते को गोद में खिलाने की कल्पना करता हुआ वृद्ध बाबा आनन्द विभोर हो उठता है; उसी प्रकार काल्पनिक भगवान के दर्शन करने में मग्न उपासक अंदर ही खोया-खोया सा होकर आनन्द विभोर हो उठता है। आश्रय अवश्य काल्पनिक व कृत्रिम है, पर उससे प्राप्त होने वाला आनन्द काल्पनिक व कृत्रिम नहीं है। वह स्वाभाविक है। बस इस वास्तविक अन्तर् शांति रस के अर्थ उपरोक्त कृत्रिमता को ही उस समय के लिए धर्म मानकर अपने प्रयोजन की सिद्धि कर लेता है। इसमें साम्प्रदायिकता का प्रवेश नहीं बल्कि अन्तर्भावना द्वारा शांति का प्रयास ही है, जिसके बिना की जाने वाली उपासना निरर्थक है। कृत्रिमता के आश्रय पर होने वाली इस काल्पनिक शांति से अनुरंजित होकर अब उसकी दृष्टि अपनी बाह्य प्रवृत्तियों पर पड़ती है तो वह उसे मूढ़ बालकों का खेल नजर आता है और स्वतः ही उसकी रुचि बाहर से हटकर अन्तर्मुख हो जाती है। वह विचारने लगता है कि इन्द्रियाश्रित इन बाह्य पदार्थों के लिए उसके मन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में अच्छे-बुरे भाव रूप संकल्प-विकल्प क्यों होते हैं ? इनसे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष से व्याकुल चित्त होकर उसका हृदय अन्दर अपनी असमर्थता पर खेद-खिन्न होता है और उनसे हटने का प्रयत्न करता है।

विचारणायें उसको स्पष्टतः यह बता देती हैं कि इस जाति के संकल्प विकल्प करने के कुछ प्रबल संस्कार उसके जीवन में पड़े हुए हैं जो कि पूर्व के अनेकों जीवनों में पुनः पुनः वैसे विकल्प करके स्वयं ही उसने पुष्ट किये हैं तथा आज भी उसी प्रकार उनका सिंचन करता जा रहा है। यह संस्कार ही वर्तमान में बार-बार वैसा करने के लिए मानो जीवन को नित्य प्रेरित करके उसे अशांत बनाये रखते हैं।

इन प्रबल संस्कारों से अपनी रक्षा का उपाय केवल एक ही है। संस्कार की मांगों का तिरस्कार कर देना अर्थात् त्यागमार्ग का आश्रय लेना। यद्यपि लक्ष्य तो पूर्ण त्याग का रहता है परन्तु वर्तमान शक्ति की हीनतावश एकदम पूर्ण त्याग करने में असमर्थ, वह अभ्यास रूप से धीरे-धीरे क्रमपूर्वक इस मार्ग को जीवन में उतारने लगता है। इन्द्रियों पर बड़ा नियन्त्रण प्रारम्भ हो जाता है। बनाव श्रृंगार की, स्वादिष्ट भोजनों की, सुगन्धित पदार्थों की, खेल-तमाशों की व गीत इत्यादि की ओर से अन्दर में कुछ अरुचि-सी जाग्रत होती है। विलासिता का स्थान सादगी ले लेती है फलस्वरूप उसका खान-पान, रहन-सहन व पहनावा सादगी के सांचे में ढलता चला जाता है।

इसके अतिरिक्त उसे लोक में दिखाई देनेवाले सर्व छोटे या बड़े प्राणियों में सजातीय बन्धुत्व का भाव दीखने लगता है। फलतः उनके प्रति उसका हृदय करुणा में भीगा रहता है। स्वयं तो उन्हें किसी प्रकार का कष्ट देता ही नहीं, पर अन्य के द्वारा भी प्राप्त उनका कष्ट वह सहन नहीं कर सकता। इसीलिये मांस, मदिरा व मधु का तथा अन्य इसी प्रकार की हिंसा जनित वस्तुओं का प्रयोग सर्वथा त्याग कर देता है। शिकार, झूठ, चोरी, परस्त्री व वेश्या गमन तथा जूआ आदि अशान्ति उत्पादक व पर-पीड़ा कारक क्रियाओं से भी सर्वथा मुंह मोड़ लेता है। दूसरे की आवश्यकताओं का सम्मान करते हुए अपनी आवश्यकताओं का बलिदान कर देता है और अधिक धन-संचय करने का भी त्याग कर देता है।

उपरोक्त प्रकार देवोपासना द्वारा जीवन के संयमित हो जाने पर कुछ काल पश्चात् अधिक-अधिक देर तक भी निर्विकल्प व शान्ति में खोया-खोया सा रहने लगता है। अब वह सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों यहां तक कि देव का भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आश्रय छोड़, एकान्त स्थान में जाकर स्वतंत्र रीति से अन्तर्शान्ति के साथ तन्मय होता हुआ योगाभ्यास प्रारंभ करता है। जिसके द्वारा अपने को समस्त नाम-रूपों व कर्मों से शून्य निर्विशेष रूप में देखते हुए समस्त संकल्प-विकल्पों से एक दिन मुक्त हो जाता है तथा शान्ति के साथ अद्वैत दशा को प्राप्त हो जाता है। अब वह जीवन विमुक्त हो गया है।

कुछ काल पश्चात् आयु पूर्ण हो जाने पर देह त्याग परम-धाम को प्राप्त हो जाता है, अब यह कभी भवभ्रमण में नहीं पड़ेगा।

यह है धर्म का सच्चा रहस्य! इसे पाकर भो धन्य जीव! लौकिक जीवन में क्रमपूर्वक धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न करो। अन्याय से हाथ खेंचो। मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का प्रयोग बन्द करो तथा शान्ति के सच्चे आदर्श की शरण में आकर कुछ हित को प्राप्ति करो।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२–शांति पथ या जैंन दर्शनसार

(क) तीन रत्न व सप्ततत्त्व

(ख) वस्तु स्वभाव व कार्यकारण व्यवस्था

(ग) साधना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. (क) तीन रत्न व सप्ततत्त्व

अहिंसा वाणी नवम्बर व दिसम्बर १९६०

अहो शांत गुरुओं की शीतलशरण, जिसकी एक झलक मात्र ने ही इस जीवन को तृप्त कर दिया। उस तृप्ति में-से ही जागृत हो गयी है यह भावना कि अरे लोक के भव्य जीव ! तुम भी एक बार इस तृप्तिकर आह्लाद का स्वाद लेकर देखो तो। कृतकृत्य हो जाओगे, प्रभु बन जाओगे। केवल कुल परम्परा के आधार पर जो कुछ भी साम्प्रदायिक क्रियायें आज जीवन में हो रही हैं, शांति के परिचय के बिना सब निरर्थक हैं। अतः प्रभो ! जो कुछ भी धारणायें इस प्रकार के साम्प्रदायिक धर्म के प्रति आज तेरी बनी हुई हैं, उनको तनिक ढीला करके निज जीवन के सार व माधुर्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर तथा मानव-जीवन को सफल बना। वह माधुर्य साम्प्रदायिक पक्षपात के आधार पर उत्पन्न होना असम्भव है। एक बार स्वतन्त्र दृष्टि उत्पन्न करके एक वैज्ञानिक की भांति अपने जीवन में घुसकर देख तो सही कि कितनी विचित्र महानिधि पड़ी है वहाँ ! आ तुझे इस अलौकिक विषय का वैज्ञानिक रूप दिखायें।

तेरी वह निधि इस बाहर के आकर्षण में, रुपये-पैसे की भूल में, महलों के पत्थरों में, जेवर व वस्त्रों की चमक-दमक में या स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब के व्यक्तियों में नहीं है; बल्कि है स्वतंत्र रूप से तेरे अपने जीवन में। वह तेरी जीवन की सम्पत्ति है, तेरा अपना सर्वस्व है। वह जिसके लिये कि हर समय तेरा अन्तष्करण तुझसे योग किया करता है-अर्थात् शांति जिसका क्षणिक दर्शन भी जीवन का रंग बदल देता है। सर्व लौकिक अभिलाषायें जहां शांत हो जाती हैं, वर्तमान का जीवन साक्षात् रूप से भार दिखाई देने लगता है। चिन्ताओं के नृत्य व भयंकर अट्टहास से घबड़ाकर वह भाग खड़ा होता है, इस वातावरण से कहीं दूर शांति नगर बसाने। अर्थात् अर्थ व काम पुरुषार्थ छोड़कर अत्यन्त रुचि पूर्वक बिना किसी प्रेरणा के स्वतः अपना लेता है वह शांतिका पथ।

जिस प्रकार डाक्टरी सम्बन्धी रुचि, तत्सम्बन्धी जानकारी व उस ही संबंधी व्यापार में प्रवृत्ति, ये तीनों ही बातें सफल डाक्टर बनने के लिए आवश्यक हैं; उसी प्रकार शांति प्राप्ति के लिए भी शांति सम्बन्धी रुचि, शांति सम्बन्धी जानकारी और शांति में प्रवृत्ति ये तीनों बातें अत्यन्त आवश्यक हैं इसीलिए शांति पथ के पथिक का जीवन इन तीनों बातों में समा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शांति ही मेरे जीवन का सार है, यह रुपया आदि नहीं; ऐसी दृढ़ श्रद्धा जागृत हो जाती है। इसकी प्राप्ति के लिये तीव्र रुचि उत्पन्न हो जाती है, जैसी कि आज धनोपार्जन के लिये है। यह रुचि मानों जीवन को धक्का दे रही है-वर्तमान का दौर बदलकर सन्तोष का आश्रय लेने के लिए। इस प्रकार का शांति के प्रति का झुकाव ही आज उसके जीवन का उल्लास है। रुपये-पैसे की प्राप्ति आदि के प्रति उसे कोई प्रीति या उत्साह नहीं और इसीलिये जो काम भी जीवन में करता है उसके फल को केवल शांति की तुला में तोलने का अभिप्राय रखता है। रुपये की या ख्याति की तुला में तोलने का नहीं, क्योंकि तृप्तिकर शांति के समक्ष आज उसकी दृष्टि में रुपये व ख्याति का कोई मूल्य नहीं। यह रुचि अकेली नहीं रहती बल्कि श्रद्धा, प्रतीति व अभिप्राय के साथ ही वर्ता करती है। यह तभी उत्पन्न होती है जबकि वर्तमान जीवन का चिन्ताओं में रंगा चित्रण या पहियों पर दौड़ने वाले व्याकुल मानव-जीवन का चित्रण प्रत्येक क्षण दृष्टि के सामने रहे और कदाचित् एक क्षण के लिए उस अद्वितीय शांति का स्वाद चख पाये। इस प्रकार शांति प्राप्ति की अत्यन्त तीव्र रुचि उत्पन्न हो जाने पर वह उसकी साधना के लिए अनेकों बातें विचारने लगता है।

जिस प्रकार की विज्ञान की दो धारायें हैं—एक सैद्धान्तिक (Theoritical और दूसरी प्रायोगिक (Practical) और बिना सैद्धांतिक शिक्षण के प्रायोगिक दिशा में प्रवेश पाना असम्भव है। उसी प्रकार यहाँ भी शांति मार्ग संबंधी सैद्धांतिक जानकारी के बिना उसकी साधना के अर्थ जीवन की प्रयोगशाला में प्रवेश पाना असम्भव है। यदि सुन-सुनाकर कोई क्रिया विशेष करने में आवे भी तो वह बन्दर की नकल मात्र होगी, जिससे किसी प्रयोजन की सिद्धि न हो सकेगी। क्रियाओं में लगने वाला पुरुषार्थ विफल जायेगा। अतः साधना प्रारंभ करने से पहिले इस मार्ग सम्बन्धी कुछ विशेष बातें जाननी अत्यन्त आवश्यक हैं। परन्तु वह भी तभी कार्यकारी हैं जबकि जानने के पश्चात् जीवन को तदनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाये।

वैसे जानने के लिए अनेकों बातें हो सकती हैं, पर संकोच करके देखने पर सात विषय या तत्त्व ही मुख्यतः ज्ञातव्य हैं।

१. मैं जिसे शांति चाहिये, वह कौन है-अर्थात् जीव तत्त्व।
२. नित्य ही मेरे साथ रहने वाले ये शरीर, कुटुम्ब व धन क्या व कौन हैं—तथा उनके साथ मेरा क्या नाता है—अर्थात् अजीव तत्त्व
३. किस अपराध के कारण मैं अशान्त बना रहता हूँ—अर्थात् आस्रव तत्त्व।
४. अशान्ति की ओर झुकने के अपराध की प्रेरणा कौन शक्ति दे रही है—अर्थात् बन्ध तत्त्व।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. मैं अशान्ति की ओर न झुक पाऊँ इसका क्या उपाय है—अर्थात् संवर तत्त्व।

६. अपराध कराने वाली उस शक्ति को कैसे परास्त करूं-अर्थात् निर्जरा तत्त्व।

७. अशांति से छूट जाने पर मेरा रूप व जीवन कितना सुन्दर होगा—अर्थात् मोक्ष तत्त्व।

बड़े आश्चर्य की बात है कि अन्य सर्व पदार्थों को जानने वाला मैं स्वयं को नहीं जानता। मुख्यतः तो यह दृष्ट शरीर ही मेरी दृष्टि में मैं हूँ। अपने अन्तर का भान न होने के कारण मैं सदा इस ही का दास बना इसकी सेवा किया करता हूँ। इसके रोग को अपना रोग, इसकी मृत्यु को अपनी मृत्यु, इसके जन्म को अपना जन्म और इसके नातेदारों को अपना नातेदार माना करता हूँ। यही कारण है कि सदा मौत व रोग के भय से दबा रहता हूँ। यही कहा करता हूँ कि एक दिन मृत्यु आ जायेगी, मुझे चिता में जला दिया जायेगा और आत्मा इसमें-से निकलकर अन्यत्र चली जायेगी।

प्रभो! जिसे तूने फूँक सरीखी काल्पनिक आत्मा नाम की कोई वस्तु जाना है, वही तो तू है। जो वस्तु चिता में जल रही है वह तू नहीं शरीर है। तनिक विचार तो सही कि कितनी बार तू आज तक चिता पर रखा जा चुका है। पर आश्चर्य है कि आज भी "मैं" कहने वाला तू ज्यों का त्यों स्थित है। यदि जल गया होता तो यह मैं कौन कहता? शान्ति की इच्छा व मृत्यु का भय किसे होता।

इन बाह्य के नेत्रों को मूंदकर कुछ अन्दर में डुबकी लगा और अन्तर्चक्षुओं के द्वारा देखने का प्रयत्न कर। देख! जहाँ से यह शान्ति की पुकार उठ रही है, जहाँ से तेरी विचारणायें चली आ रही हैं, जहाँ दुख में हाय-हाय और सुख में वाह-वाह की ध्वनि सुनाई देती है, वह कौन है? क्या सब कुछ शरीर में होता प्रतीत हो रहा है? अन्तर में प्रकाशमान व अनुभवगम्य वही परम ज्योति चैतन्य तू है, इसकी मृत्यु व जन्म नहीं होते। यह अजर व अमर है। शरीर का रोग तेरा रोग नहीं, अशान्ति ही तेरा रोग है। अतः शरीर की औषध तेरे रोग की औषध नहीं, विचारणायें ही तेरे रोग की औषध है। शरीर के सम्पर्क में आने वाले धन कुटुम्ब तेरे सहायक नहीं, तेरी विचारणायें ही तेरी सहायक हैं। उन्हीं के कारण तू अशान्त बना हुआ है और उन्हीं से तू शान्त बन सकता है। यह है प्रथम जीवतत्त्व।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये शरीर आदि जड़ पदार्थ तो जड़ हैं और तू चेतन, भले ही ये चेतनवत् प्रतीत हों पर वास्तव में ऐसा नहीं है। तनिक अपने को अर्थात् उन विचारणाओं को एक क्षण के लिये पृथक् करके देख ले, खुल जायेगी इस ढोल की पोल। कहाँ चली जाती है इसकी सकल स्फूर्ति। यदि ये विचारणायें भी शरीर के अंग रूप हुई होतीं तो मृत्यु आ जाने पर इसमें-से कहाँ लुप्त हो जातीं, क्योंकि मृत्यु के समय दोनों को पृथक् होता हुआ देखा जाता है। इसीलिये यह निर्णय करना चाहिये कि यह डेढ़ मन का पुतला एक का नहीं, बल्कि दो पदार्थों का बना हुआ है एक चेतन और दूसरा जड़।

यह जड़ शरीर ही इन इन्द्रियों से देखा व जाना जा रहा है। इसलिये ही तुझे कुछ भ्रम-सा हो रहा है। अपनी सत्ता से अनभिज्ञ तू इसी को निज रूप मान बैठा है, और किये जा रहा है इसकी सेवा। इसके अच्छे लगने वाले पदार्थों को प्राप्त करने या कराने के लिये तथा इसे अच्छे न लगने वाले पदार्थों को दूर करने के लिये, सुबह से शाम तक तू नित्य व्यग्र बना दौड़ा जा रहा है, बिना यह विचारे कि इससे तुझे मिल क्या रहा है चिन्ताओं के अतिरिक्त। यही है अजीवतत्त्व।

इसके स्वार्थ-पोषणवश तू जगत के सर्व पदार्थों को इसके अनुकूल देखना चाहता है मानो यह सब पदार्थ तेरे अधीन ही हों। जैसा तू चाहे वैसा ही वर्तन करें, ऐसी इच्छा नित्य बनी रहती है। पर देखने में यह आता है कि इतना परिश्रम करते रहने पर भी कभी-कभी तो काम तेरी इच्छा के अनुकूल हो जाते हैं, पर 'यह मैंने किया' ऐसा अहंकार प्रकट हो जाता है और प्रतिकूल हो जाने पर भाग्य को कोसने लगता है। इस प्रकार बराबर यह ला, वह दे, यह कर, वह बिगाड़, यह मिला, वह मिटा, यह मेरा, वह तेरा, यह अच्छा, वह बुरा, यह चाहिये, वह नहीं चाहिये—इत्यादि अनेक प्रकार की विकल्पनाओं में फँसा हुआ नित्य ही अपने जीवन में तू नयी-नयी व्याकुलता, नयी-नयी चिन्ता उत्पन्न करता रहता है। वस्तु स्वतंत्रता को अपने अधीन बनाने की यह तेरी अधिकृत चेष्टा ही तेरे जीवन का सबसे बड़ा अपराध है। जिसका दण्ड तुझे चिन्ताओं के रूप में मिल रहा है। इसी का नाम है आस्रव तत्त्व।

इस प्रकार की व्यग्रतापूर्ण भाग-दौड़ तूने आज ही नयी प्रारंभ की हो सो बात नहीं है, पर सदा से ही प्रत्येक जीवन में तू ऐसा करता आ रहा है। जीवन के पीछे जीवन आते हैं और चले जाते हैं, परन्तु विचार कर देख तो सही कि प्रत्येक जीवन में इस व्यग्रतापूर्ण दौड़-धूप के अतिरिक्त और क्या किया है तूने। नित्य ही एक जाति का कार्य करते-करते तुझे ऐसा कार्य करने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टेव पड़ गयी है। ऐसा करने का एक संस्कार तेरे जीवन की गहराई में उतरकर वैठ गया है। जो सदा उसी प्रकार का अपराध करने के लिये प्रेरणा देता रहता है और उससे प्रेरित तू पुनः पुनः वही अपराध कर बैठता है। इस प्रकार नवीन-नवीन अपराधों के द्वारा नित्य ही उस संस्कार का सिंचन करता हुआ उसे पुष्ट करता आ रहा है। यह संस्कार ही वास्तव में वह शक्ति है, जो कि तुझे पुनः पुनः प्रेरित करती है उसी प्रकार की दौड़-धूप में व्यस्त हो जाने को। और इसलिये तुझे आज अवकाश नहीं। इतना भी विचारने का कि क्या इस दौड़ का कभी अन्त आ सकेगा ? यह संस्कार ही तेरे जीवन का सबसे बड़ा वन्धन है यही है बन्धतत्त्व।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ख) वस्तु स्वभाव व कार्यकारण व्यवस्था

अहिंसा वाणी जनवरी १९६१

काश कि इतनी भाग-दौड़ अपनी शान्ति की प्राप्ति के लिये की होती तो आज तक तू कभी का शान्त हो गया होता। सर्व दौड़-धूप समाप्त हो गयी होती और तू विश्राम में बैठा अपने अन्तरंग का स्वाद लेता होता। परन्तु ऐसा होना तभीं तो सम्भव है जबकि यह जान पाये कि जिन पदार्थों को तू अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रहा है वे सब स्वतंत्र हैं, तेरे अधीन नहीं हैं। तू सदा इनको अपने अनुकूल बनाता-बनाता मृत्यु का ग्रास बन जाता है, परन्तु वे पदार्थ इस लोक में बराबर ज्यों के त्यों बने हुए अपने मनमाने नाच-नाचते रहते हैं। तू भले ही कुछ समय की अनुकूलता देखकर अहंकारवश यह मान बैठता हो कि तू जैसा चाहे इनको बना दे या बिगाड़ दे, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। भाई ! जिस प्रकार अन्य प्राणियों को तू अपने अधीन बनाकर अपने अनुकूल रखना चाहता है क्या उसी प्रकार वे अन्य प्राणी भी तुझे अपने अधीन बनाकर अपने अनुकूल न रखना चाहेगे ? क्या वे भी तेरे जैसी धारणायें लिये नहीं बैठे हैं ? जरा विचारकर यह तो बता कि तुम सबों में कौन किसके अनुकूल बनेगा। इस बात का फैसला कौन करेगा ?

इन जड़ पदार्थों को भी तू नित्य कुछ बनाता आ रहा है और नित्य बिगड़ते जा रहे हैं। तू नित्य उन्हें बिगाड़ता आ रहा है और वे नित्य बनते आ रहे हैं। संकुचित दृष्टि को छोड़कर जरा व्यापक दृष्टि बना। समस्त विश्व को एक ही बार देख और फिर विचार कि पदार्थों को बनाने व बिगाड़ने की व्यवस्था किसके आधीन है।

यदि ऐसी दृष्टि बनाकर देखो तो अवश्य तेरा भ्रम जाता रहे। वस्तु की स्वतंत्रता को स्वीकार करे, बनना व बिगड़ना वस्तु का स्वभाव है उस स्वभाव को बाधित करना तेरी शक्ति से बाहर है। इसे बनने व बिगड़ने के क्रम में सर्व जड़ व चेतन पदार्थों का परस्पर संयोग व वियोग होना भी अनिवार्य है। क्योंकि जहां अनेकों पदार्थ इधर से उधर दौड़ते फिरेंगे वहां एक दूसरे के साथ टकराव हो जाना स्वाभाविक ही है। तू भी एक पदार्थ है। इसे बनने व बिगड़ने के प्रवाह क्रम में तेरे साथ अनेकों पदार्थों का और उन पदार्थों के साथ तेरा यथावसर संयोग हो अवश्य जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की इस व्यवस्था में तू कोई भी हस्तक्षेप कर सकता है या कर रहा है। यह व्यवस्था सदा से इसी प्रकार चली आ रही है और चलती रहेगी।

आज का दीखने वाला भौतिक विज्ञान क्या विश्व में अब तक पहली ही बार प्रगट हुआ है ? विश्व के लिये वास्तव में यह कोई नयी बात नहीं है। कितनी ही बार इसी प्रकार के या इससे भी उत्तम वायुयान, एटम बम्ब व स्पुत्निक या कृत्रिम चन्द्रमा द्वारा अन्तरिक्ष की यात्रायें इस धरातल पर हो चुकी हैं, यह कौन जाने। पर विश्व की व्यवस्था में आज तक कोई फेर फार नहीं हो सका। अहंकार के शिखर पर चढ़े मानव जरा नीचे की ओर उस दिन को देख जब तेरी सम्पूर्ण खोजें प्रलय को प्राप्त होने वाली हैं। उस दिन के पश्चात् क्या होगा ? वही पुराना कार्यक्रम। यही है विश्व की व्यवस्था चढ़ना व उतरना, बनना व बिगड़ना, इसको बदल डालना तेरी शक्ति के बाहर है।

अब अपने हित की ओर लक्ष्य कर और उपरोक्त स्वतन्त्र व्यवस्था का निर्णय करके इस करने-धरने की व्यग्रता से विराम पा। मत घबड़ा कि सम्पूर्ण विश्व ऐसा हो जायेगा तो यह व्यवस्था कैसे चलेगी, क्योंकि ऐसा न कभी हुआ है और न कभी हो सकता है। तुझे अपना हित चाहिये, विश्व से तुझे क्या लेना। जाने दे इसे जहां जाता है। तू परमप्रकाशमान अन्तर्ज्योति चैतन्य विलास आनन्दमूर्ति है। जानना तेरा स्वभाव है करना नहीं। भले ही शरीर के साथ रह रहा हो, पर यदि विचारणाओं के आधार पर अपने को इससे पृथक् करके ही देखता रहे तो बता तू अमूर्तिक चैतन्य पदार्थ जानने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकेगा ?

कितना अच्छा होता यदि तू इस जगत का कर्ता न बनकर दर्शक बना रहता। देख, अजायबघर में जाकर अनेकों पदार्थों को देखकर भी तू प्रसन्न-चित्त ही लौट आता है, परन्तु वैसे ही पदार्थों को बाजार में देखकर उनको प्राप्त करने सम्बन्धी चिन्ताओं में अच्छे-बुरे के या बनाने-बिगाड़ने के विकल्पों में क्यों उलझ जाता है। इसलिये न कि अजायबघर के पदार्थों के प्रति अधिकार नहीं है। केवल देखने का अधिकार है। पर बाजार वाले पदार्थों में तेरा विश्वास असत्य है कि उन्हें तू ग्रहण कर सकता है या बना-बिगाड़ सकता है। तेरी संकुचित दृष्टि ही इसका कारण है। विश्वव्यापी दृष्टि में इस अहंकार को प्रवेश नहीं। बस तेरा यह असत्य अहंकार ही तेरी चिन्ताओं का कारण बन रहा है। दर्शक बने रहने में चिन्ताओं को अवकाश नहीं।

इस झूठे विश्वास के कारण ही तू पदार्थों में मेरे-तेरे की बुद्धि कर बैठता है और उनके बनने-बिगड़ने के कारण हर्ष-विषाद करता रहता है। जरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार तो सही कि पदार्थों में तेरापना कहां है ? देख ! इन सब में रंग भी है सुगन्ध भी है स्वाद भी है, पर इसमें मेरापना कहां चिपटा हुआ है। सो दिखाई नहीं देता कल तेरा यह रहने वाला मकान तेरे दुःख-सुख का कारण बना था, पर आज की रजिस्ट्री हो जाने के पश्चात् क्यों तेरे दुःख-सुख का आधार नहीं रहा है ? आज इसमें आग लग जाने पर भी तू चिंतित क्यों नहीं होता ? विचार कर देख तो सही कि रजिस्ट्री किस बात की है मकान की या मेरेपने की ? मकान तो ज्यों का त्यों है पर मेरापना कहां रहा और इसलिये तत्सम्बन्धी चिन्ता भी न रही।

इस पर से यह जान लेना योग्य है कि चिन्ताओं का कारण कोई पदार्थ नहीं, पदार्थों सम्बन्धो ज्ञान भी नहीं, बल्कि तेरा ही वह उल्टा श्रद्धान है। जिसके आधार पर कि तू पदार्थों की स्वतंत्रताको स्वीकार न करके उनका स्वामी व अधिकारी बन बैठता है, क्योंकि वास्तव में वे तेरे आधीन हैं नहीं। इसलिये उनको अपने आधीन बनाकर अपने अनुकूल बनाने की तेरी कल्पना उनमें तो कोई बिगाड़-सुधार कर नहीं पाती, हां तुझे व्याकुल अवश्य बना डालती है। असम्भव को सम्भव बनाना चाहेगा तो चिन्ताओं के अतिरिक्त मिलेगा भी क्या ? अतः इस झूठे श्रद्धान से अब बस हो। यही है अशान्ति से अपनी रक्षा करने का मूल उपाय, जो बाहर की उछल-कूद में नहीं, विचारणाओं में निहित है।

◻

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. (ग) साधना

अहिंसा वाणी मार्च १९६२.

जीवन में पड़े इस करने-धरने के प्रबल संस्कार की प्रेरणा-वश एकदम ऐसा हो जाना अर्थात् करने-धरने के विकल्पों से छुट्टी पाकर ज्ञाता-दृष्टा भाव में स्थित हो पाना असम्भव है। अतः इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ इसका धीरे-धीरे अभ्यास करना होगा। जिसके द्वारा कि उस प्रबल संस्कार की शक्ति में कुछ कमी पड़े, आगे इसका पोषण होने न पावे। इस जाति का अभ्यास प्रारंभ करने के लिये प्रथम स्थिति में किन्हीं शान्त जीवन आदर्शों का अर्थात् देव व गुरु का प्रथम आश्रय अत्यन्त उपयोगी है। शान्ति के उपासक देव व गुरु भी शान्त ही होने चाहिये। उनके जीवन में अभिलाषा व भय दिखाई नहीं देने चाहिये, क्योंकि उन चिह्नों के रहते उन्हें शान्ति का आदर्श नहीं कहा जा सकता।

ऐसे शान्त जीवनों के चित्रण अन्तःकरण में खेंच-खेंच कर यदि उनके हृदय में उछलते शान्ति-स्रोत को देखने का, उनके हृदय के माधुर्य को चखने का, उनके अन्तरंग में बहते हुए साम्यरस के झरने में स्नान करने का प्रयत्न करे तो तुझे भी उतनी देर के लिये अपनी शान्ति की याद तथा किंचित रूप में उसके रस का स्वाद आये बिना न रहे। परन्तु यह होना तभी सम्भव है जब कि वह आश्रय ठीक प्रकार से लिया गया हो। केवल उनके प्रति की शाब्दिक भक्ति से प्राप्त उस प्रकार का फल होना असम्भव है। उनकी शान्ति को पढ़-पढ़-कर पुनः-पुनः अपनी शान्ति में खो जाने का प्रयास करते हुए जो कुछ भी हार्दिक उद्गार उनके प्रति जिन भी शब्दों में प्रगट हो पावें। बस यही उनका सच्चा आश्रय व उनकी सच्ची उपासना है। जो कि प्रथम भूमिका में अर्थात् अनभ्यस्त दशा में शान्तिपथगामी के लिये बहुत आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त उनके द्वारा दिये गये मौखिक व लिखित उपदेश को ग्रहण कर-करके पढ़के तत्सम्बंधित विचारणाओं के आधार पर अपने जीवन का सार खोजने का प्रयत्न करते हुए, लौकिक व्यग्रताओं से कुछ देर के लिए विश्राम पाकर अपनी शान्ति में कुछ देर खोये रहना भी अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि देव गुरु व उनके उपदेशों का आश्रय आगे जाकर छोड़ दिया जाने योग्य है, परन्तु वर्तमान की निकृष्ट दशा में जब तक कि तेरा लौकिक जीवन भी पराश्रय में ही बहा जा रहा है तब तक महान् प्रयोजनीय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन तीनों के आश्रय से शान्ति में खो जाने का थोड़ा-थोड़ा अभ्यास बढ़ाते हुए तथा शान्ति का रस थोड़ा-थोड़ा चखते हुये जीवन स्वतः ही बाह्य आकर्षणों के प्रति थोड़ा-थोड़ा उदासीन-सा होता जायेगा। फलस्वरूप विषय भोगों के प्रति अरुचि हो जायेगी। गृहस्थ दशा में रहते-रहते ही अनावश्यक (Luxuries) का धीरे-धीरे क्रम से यथाशक्ति त्याग होने लगेगा। सन्तोष में वृद्धि होती जायेगी। जीवन का रंग बदल जायेगा। अन्य छोटे व बड़े प्राणियों के प्रति करुणा बढ़ती जायेगी।

शान्ति रस के बहुमानवश वह जीवन में आने वाली छोटी-मोटी बाधाओं को हंसता-हंसता उलांघ जायेगा। दूसरों की बाधाओं को दूर करने के लिये सदा उसकी सेवायें उपस्थित रहेंगी। तन से, मन से, वचन से व धन से यथाशक्ति वह दुःखी जीवों की सहायता करना अपना परम कर्तव्य व सौभाग्य समझने लगेगा। अपने जीवन की बाधाओं को न गिनता हुआ वह दूसरों की बाधाओं को दूर करने का भरसक प्रयत्न करता रहेगा। क्योंकि शान्ति के सच्चे उपासक का हृदय किसी की भी शान्ति में भंग आया देखकर स्वतः ही कुछ रो सा उठता है।

इस प्रकार निचली दशा में अर्थात् गृहस्थ दशा में रहते हुए देव व गुरु की उपासना, स्वाध्याय, इन्द्रिय-दमन, व प्राणीदया रूप संयम, बाधाओं का उल्लंघन रूप तप व सर्व सत्व की सेवा रूप दान, इन छः आवश्यक क्रियाओं के आधार पर वह नित्य ही शान्ति की दिशा में अपने जीवन को धीरे-धीरे ढालने का अभ्यास करता रहेगा और लौकिक आकर्षणों से उपेक्षा करता चला जायेगा।

अभ्यास बढ़ जाने पर वह दूसरी स्थिति में पदार्पण करता है। वह कुछ व्रत ग्रहण करके उपरोक्त संयमादि में कुछ दृढ़ता लाता है। मृत्यु आये तो आये पर व्रतों की बाधा उसे सह्य नहीं है। उसका वीर्य अब बराबर वृद्धि पाता जा रहा है। वह जीवन की आवश्यकताओं को बराबर घटाता जा रहा है। देव व गुरु के आश्रय के बिना ही अब वह स्वतन्त्र रूप से अपनी शक्ति से अपने में खोये जाने का अभ्यास प्रारम्भ कर देता है। इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ दिन में तीन बार नियम से तथा अन्य अवसरों पर भी सामायिक करता है अर्थात् एक सीमित समय तक जगत का ज्ञाता-दृष्टा मात्र बनकर रहने का अभ्यास करता है। भूख व प्यास की बाधायें उसको शांति से विचलित न कर सकें इसलिए उपवास करता है। तथा इसी प्रकार अन्य भी अनेकों वस्तुओं का क्रम से त्याग करता हुआ वह एक दिन ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ कि उसके करने-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धरने के विकल्प शांत हो जाते हैं और लंगोटी व एक चादर मात्र में उसकी सर्व आवश्यकतायें सीमित हो जाती हैं।

यहाँ पहुंच कर भी वह रुकता नहीं, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है उसकी उत्सुकता भी बढ़ जाती है। शक्ति की चरम सीमा का स्पर्श करने के लिए अत्यन्त लालायित मन वाले उस महापराक्रमी को आज उपरोक्त आवश्यकतायें भी भार दिखाई देने लगती हैं। अतः उनको भी त्यागकर नग्न दिगम्बर रूप धारण करके बन-बन विचरण करने लगता है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों अशांति से उसकी रक्षा होती जाती है।

कषायों पर अब वह विजय प्राप्त कर चुका है। क्रोधका स्थान अब क्षमा ने ले लिया है। मान का स्थान मृदुता ने, माया का स्थान सरलता ने और लोभ का शौच या अन्तर् पवित्रता ने। इन्द्रियों पर भी उसका पूरा-पूरा नियन्त्रण है। आज छोटे से छोटे भी किसी प्राणी से उसे बाधा नहीं पहुँचती। मन व वचन पर उसका काबू है। हितकारी व मधुर वचन ही बोलता है। लोक में कोई भी पदार्थ जब उसका नहीं है और वह स्वयं भी किसी का नहीं। नित्य ही अन्तर् रस में अर्थात् ब्रह्म में रमता हुआ वह सर्व सृष्टि को अपने अन्दर समाये जा रहा है। ज्ञाता-दृष्टापने के कारण सर्वसृष्टि उसमें और वह सर्व सृष्टि में मानो ओत-प्रोत हुआ जा रहा है। यह सारे चिह्न उसके अपने जीवन में प्रकट होते हैं, अन्तरंग तृप्ति में खोये जाने के कारण।

लोक की बड़ी से बड़ी बाधा भी आज उसको शांति मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। एक बड़े योद्धावत् वह इस कार्य क्षेत्र में उतरा है और मानो ललकार रहा है लोक की सर्व बाधाओं को, भूख, प्यास हिम, आतप, वर्षा, डांस, मच्छर, मक्खी, रोग व अन्य शारीरिक व मानसिक पीड़ाओं को वह जानबूझ कर आमन्त्रित करता है। इस बात की परीक्षा के लिए कि उसका बल कहां तक चढ़ चुका है। कहीं इन बाधाओं द्वारा उसकी शांति भंग तो नहीं हो जाती और यदि कदाचित् ऐसा होने भी लगे तो वैराग्य भावनाओं के द्वारा उन बाधाओं को विनष्ट कर देता है। इस प्रकार संस्कारों से युद्ध करता हुआ वह एक दिन शान्ति को प्राप्त कर विमुक्त हो जाता है। यह है निर्जरा तत्त्व।

उसका सम्पूर्ण जीवन अब साम्यरस में भीग गया है। साम्यरस से एक क्षण को भी छूटना वह सहन नहीं कर सकता। यदि कदाचित् छूट जाये तो पुनः साम्यता में ही स्थिति पाने का प्रयास करता है। अन्तरंग मलशोधन में बराबर सावधान रहता है तथा विशुद्धि में बराबर वृद्धि करता रहता है। अन्तरंग में पड़ा सूक्ष्म भी दोष आज उसे बड़ा दिखाई देता है। ध्यान की एकाग्रता अर्थात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शांति में निश्चल स्थिति करने के द्वारा वह अन्तरंग के सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष को भी जलाकर एक दिन बिल्कुल ऐसी अवस्था में प्रवेश कर ही जाता है, जबकि उसकी शांति पूर्णता को प्राप्त हो चुकी होती है। शान्ति प्राप्ति का विकल्प भी जहां शांत हो जाता है इस दशा से अब कभी वह छूट न सकेगा।

अहो ! कैसी महिमा है आज उसकी। मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। आज वह प्रभु बन गया है। भगवान, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शिव, शंभु, ऋषभ, देव, अर्हन्त, सिद्ध, परमेश्वर और भी जो-जो चाहो वह-वह कहो; पर उसकी महिमाका वर्णन नहीं हो पाता। मार्ग पूरा हो गया। लक्ष्यबिन्दु का स्पर्श कर लिया। इसी अवस्था का नाम है मोक्ष।

यही है सात बातों सम्बन्धी कुछ संक्षिप्त सा ज्ञान, जिसे प्राप्त करके संतुष्ट होना नहीं, बल्कि अपनी शक्ति के अनुसार जीवन को तदनुरूप ढालने का प्रयत्न करना ही योग्य व श्रेयकर है; क्योंकि प्रवृत्ति या Practical के बिना सैद्धांतिक या Theoritical ज्ञान निरर्थक है। केवल अभिमान का ही कारण है। अतः प्रभो ! अब शांति सम्बन्धी मार्ग का ज्ञान हो गया है तो वर्तमान की इस भागदौड़ से विराम कर। और रुचि, ज्ञान व प्रवृत्ति, इन तीनों को जीवन के ढलाव में अवकाश दे। अवश्यमेव एक दिन पूर्ण शांत हो जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. सत्यं शिवं सुन्दरं

अहिंसा वाणी दिसम्बर १९६१.

'सत्यं शिवं सुन्दरं' कितना मधुर और सुन्दर लगता है यह सूत्र ? कितनी प्रिय लगती है इसकी गूंज ? भला क्यों न लगे ? मेरे अपने वैभव का गायन जो करता है यह ! कोई तो इसको भगवान का नाम समझकर भक्ति में ओत-प्रोत हुआ मस्त झूमने लगता है, कोई इन शब्दों की सुन्दरता मात्र से तृप्तवत् हो खो जाता है, परन्तु अध्यात्म की विश्वव्यापी दृष्टि का पेट इतने मात्र से कैसे भरे ? वह तो देखता है इस गुंजार में वैठा हुआ एक विश्व, अपना विराट् स्वरूप, चैतन्य का वैभव, इसका अचल आनन्द व सुन्दरता। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' इस नाम को किसी एक व्यक्ति विशेष में सीमित करने का प्रयत्न मतकर। प्रभो ! इसके व्यापक रूप को देख, प्रत्येक प्राणी ही तुझे इस रूप में दिखाई देगा। क्योंकि प्राणी व प्रभु, जीव व भगवान, आत्मा व परमात्मा, इन दोनों में कोई भी तात्त्विक अन्तर है ही नहीं। यदि कदाचित् आन्तरिक रूप के दर्शन कर पाये तो बस इस तथ्य को पहचान लेने में ही तीर्थंकर श्री शीतल, श्रेयांस एवं वासपूज्य ही क्या ? अनन्त तीर्थंकरों के दर्शन हो जाते हैं, 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का परमोत्कृष्ट रूप सामने आ जाता है। उन तीर्थंकरों को नमस्कार !

अतः बाहर में नहीं प्रभो ! अन्तर में अनन्त निधि है सत्य की, शिव की और शास्वत सौंदर्य की। वाहर दीखता है तो चमड़े हड्डी का एक ढेर। नाम 'मैं' है ही। नहीं, तब इसमें मेरा वैभव कहाँ ? इसके भीतर विचारणाओं की गहनताओं में प्रवेश करके सम्वेदनाओं के तारों को छेड़कर सुनने का प्रयत्न कर। देख ! कितनी मधुर आ रही हैं इसकी गुंजार की तरंगें। परन्तु इन नेत्रों से दिखाई न देगा नाथ ! इन कानों से सुनाई न देगा इसका गान ! बन्द कर ले इन्हें एक क्षण को, केवल एक क्षण के लिये मैं देता हूँ तुझे वह दिव्य चक्षु, बिल्कुल प्रत्यक्ष, ज्ञानघन—चिदानन्द भगवान आत्मा। धन्य हो प्रभो !

जीवन के पीछे जीवन आये और चले गये, अनेकों रूप बनाये और बिगाड़ लिये और अब भी नित्य बना रहा है—कोई छोटा और कोई बड़ा, कोई क्षुद्र कीट का और कोई प्रतिभाशाली मनुष्य का, कोई नारकी का और कोई अनेक चमत्कारों से पूर्ण देव का, परन्तु भूल गया है सबको। देख ! तनिक इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिव्य आँखों से-कहाँ हैं वे-तेरे अन्दर ही तो बैठे हैं। कौन प्राणी है जिसने यह नाटक न खेला हो और अब न खेल रहा हो ? मुझमें से, तुझमें से, सबमें से ही निकल रहे हैं यह सब रूप और बराबर विलीन हुए जा रहे हैं उसमें ही, सागर की चंचल कल्लोलोंवत्। कौन सा रूप है जो न धारने से खेल रहा हो ? कोई नहीं। क्या एक बार ? नहीं, अनेकों बार धारे हैं। तो फिर क्यों प्रयत्न करता है बाहर में देखने का ? अन्दर में ही देख ! अपने साथ एकमेक ! यही तो है मेरा विराट् रूप, सबका अपना-अपना विराट् रूप। उन्मज्जन व निमज्जन। कितना बड़ा दीखता है ? समस्त विश्व के बराबर ! क्यों ? क्योंकि सारे रूप बैठे हैं यहाँ ! क्या एक-एक बार ? नहीं, अनेक-अनेक बार। तो फिर एक विश्व क्यों कहता है। अनेक विश्व कह इनको। ओह ! बाहर में तो दीखता है केवल एक विश्व, पर अन्दर में बैठे हैं अनेक विश्व ! कहाँ दीख रहे हैं यह सब ? चित् प्रकाश के ज्ञान दर्पण में। हृदय के चित् पट पर ! क्या कल्पना मात्र है ? नहीं, सत्य बिल्कुल सत्य ! बस यही तो है तेरा-मेरा सबका सत्य रूप 'सत्यं शिवं सुन्दरं' !

अभी मत खोल प्रभो ! इन आँखों को और भी बहुत दिखाना है इनमें। आँखें खोलने पर तो पुनः दीखने लगेगा शरीर ! खण्डित हो जायेगा यह अन्त-रंग का विश्व ! अब दीख रहा है-सब कुछ —मैं रूप से और फिर दिखने लगेगा 'यह और वह' मैं और तू रूप से। अब दीख रहा है एक रस रूप से, एक अखण्डित तत्त्व की अनुपम सृष्टि के रूप से और फिर दीखने लगेगा पारे की डलियों की भांति खण्डित रूप से। अब न अच्छे की कल्पना है न बुरे की ! न ग्रहण की भावना है न त्याग की ! और फिर जागृत हो जायेंगी, यह सब कल्पनायें, भंग हो जायेगा सारा स्वप्न ! अब है साम्यता, फिर होगी विषमता, अब है वीतरागता फिर होगी रागद्वेष की धधकती प्रचण्ड ज्वाला, अब है शीतलता फिर होगी अन्तरदहन की चटपटता, अब है निर्विकल्पता और फिर होगी विकल्पों की भयानक आँधी व अद्वैत में द्वैत की भ्रान्ति, अब है सुन्दरता फिर होगी भयानक काल की विकरालता !

वर्तमान के इस मानवरूप में सिकुड़कर रहने वाली उस साधारण संकीर्ण दृष्टि से इसके अतिरिक्त और आशा भी क्या की जा सकती है ? परन्तु वह तो क्षणवती है असत्य है। प्रभो ! इस अपने विराट् त्रिकालरूप को धारण करके एक व्यापक दृष्टि उत्पन्न कर ! वह जिसमें सम्पूर्ण विश्व क्षण में युगपत् तेरे मन की गहनताओं में सागरवत् उछलने लगे और तू खो जाये उसी के दर्शन में ! भूल जाये बाहर की करने-धरने आदि की, अथवा मेरे, तेरे या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अच्छे-बुरे आदि की द्वैत में सनी हुईं सम्पूर्ण कल्पनाओं को ! यही तो है तेरा वास्तविक सौंदर्य, अन्तरंग वैभव ! परात्म दर्शन, ईश्वरीय रूप ! जो स्वयं कल्याण रूप है, हित रूप है, शिव रूप है ।

"मैं केवल चेतन हूँ इसके अतिरिक्त कुछ नहीं ? इस प्रकार से अपने त्रिकाली, प्रचलित प्रकाश को लक्ष्य या ध्यान में लेकर एक क्षण के लिये भी यदि इस उपरोक्त अपने विश्वव्यापी विराट् रूप के दर्शन करे तो सम्पूर्ण चिन्ताओं से दूर आनन्द की मधुर हिलोरों के साथ तन्मय हो जाये ! तब भक्त व भगवान का भेद न रहे ! आत्मा ही परमात्मा रूप साक्षात् दीखने लगे ! यही है तो तेरा परमविश्व स्वरूप, सत्य व सुन्दर रूप ! हर घट में बसता है यह ! यदि दिव्य चक्षु से देखे तो प्रत्यक्ष ही है 'सत्यं शिवं सुन्दरं' !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. जीवन

अहिंसा वाणी मई १९६२.

अत्यन्त हर्ष की बात है कि कानपुर की भव्य जैन समाज को विश्व जैन मिशन द्वारा आयोजित तीन दिन के इस अधिवेशन में अनेकों अनुभवी विद्वानों के मुख से सांस्कृतिक व अहिंसा सम्मेलन के रूप में अनुपम रत्नों की प्राप्ति हुई। आज तीसरे दिन अध्यात्म-सम्मेलन के रूप में आपके जीवन की एक निकट भव्य झांकी प्रस्तुत की जा रही है। अहिंसा व अध्यात्म इन दो शब्दों में कोई मौलिक भेद नहीं है। अध्यात्म मूल है और अहिंसा उसका फल! अध्यात्म विज्ञान है और अहिंसा उसकी उपज, अध्यात्म सिद्धान्त है और अहिंसा उसके द्वारा प्राप्त व्यावहारिक जीवन! अध्यात्मज्ञान के अभाव में निर्मूल वृक्षवत् अहिंसा निःसार है और अध्यात्मज्ञान के सद्भाव में अहिंसा-वृत्ति अविनाभावी स्वभाव है।

जीवन के दो ही अंग हैं। एक बाह्य और दूसरा अन्तरंग। बाह्य-जीवन इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है और अन्तरंग जीवन केवल अनुभव का विषय है। बाह्य-जीवन दृष्ट है और अन्तरंग-जीवन अदृष्ट। दृष्ट को देखने का अभ्यास हम सबको है, पर अदृष्ट हमको दिखाई नहीं देता। इसी कारण दृष्ट जीवन ही हमारी श्रद्धा का विषय है। अदृष्ट जीवन आज की स्थूल भौतिक दृष्टि में कपोल-कल्पना समझा जाता है। बाह्य-जीवन को ऊँचा उठाने का प्रयत्न हम सब कर रहे हैं। हमारी सरकार भी इस दिशा में ही अपने उद्यम की सफलता देख रही है। समस्त विश्व भी चन्द्रमादि ग्रहों व नक्षत्रों की ओर दौड़ता हुआ समस्त व्योममण्डल में उस ही की खोज के प्रति अथक परिश्रम कर रहा है। पर हाथ क्या आ रहा है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

५० वर्ष पूर्व के मानवीय जीवन से आज के जीवन का माप किया जावे तो निःसंदेह इसका स्तर बहुत ऊँचा उठ चुका है। ५०० वर्ष पूर्व का जीवन अत्यन्त सादा सरल व सन्तुष्ट था, परन्तु आज का जीवन विलासिता के रंग में रंगा हुआ अत्यन्त सुहावना प्रतीत हो रहा है; पर मानव इस बात को बिल्कुल भूल बैठा है कि बाह्य-जीवन की इस उन्नति के फलस्वरूप अन्तरंग-जीवन आज धूल-धूसरित हुआ अपने भाग्य पर सिसक-सिसककर आँसू बहा रहा है।

धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का पारस्परिक सम्मेलन ही यथार्थ जीवन है, परन्तु अर्थ और काम में तृप्तवत् हुआ मानव धर्म विहीन होकर क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथार्थ जीवन का आनन्द ले सकता है। यह विचारणीय है। यद्यपि धन की चमक से अन्धा हुआ वह आज धर्म को पुराने जमाने की रूढ़ि समझकर आज के वैज्ञानिक युग में उसकी कोई आवश्यकता नहीं समझता, परन्तु क्या वह बता सकता है कि धनोपार्जन तथा उसके उपभोग में उसका पुरुषार्थ अथवा चतुराई मात्र ही पर्याप्त है। या उसके पीछे अदृष्ट रूप में कुछ और भी है। भैया! चतुर व्यक्ति भी ठोकर खाते देखे जाते हैं और मूर्खों को धन कदाचित् स्वत प्राप्त होता देखा जाता है। अदृष्ट की सिद्धि होती है, अतः अपनी चतुराई के अहंकार को तजकर अपने जीवन को संतुलित बनाने का प्रयत्न कर अर्थात् धर्म को भी इसमें योग्य स्थान दे।

धर्म ही आन्तरिक-जीवन है अथवा आन्तरिक-जीवन ही धर्म है। गुरुओं द्वारा प्रदत्त दिव्य-दृष्टि को प्राप्त करके उसे देखने का प्रयत्न कर। सन्तोष व शान्ति ही आन्तरिक-जीवन है। धन का विशाल ढेर होते हुए भी यदि चित्त अशान्त है तो वह धन किस काम का? और यदि सन्तोष व शान्ति है तो उसकी इच्छा के अभाव से वह किस काम का? दोनों ही दृष्टियों से देखने पर धन का कोई मूल्य नहीं, फिर भी उसके पीछे पड़े हुए अपने आन्तरिक जीवन अर्थात् शान्ति की सदा अवहेलना कर रहे हैं। हम उसमें-से ही शान्ति की खोज निकालना चाहते हैं, परन्तु यह असम्भव है। ज्यों-ज्यों बाह्य-जीवन का उत्थान होगा त्यों-त्यों अन्तरंग जीवन का पतन अवश्यम्भावी है, और प्रत्यक्ष! भले ही आज का विश्व तथा भारत सरकार इस बात का दावा करती हो कि उसने मानवीय जीवन को बहुत ऊंचा उठाया है, पर अध्यात्म उसके इस मिथ्या के अहंकार पर हंसने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है। उसकी दृष्टि में तो जीवन-स्तर बहुत नीचे गिर गया है। जहाँ भौतिक-जीवन की उन्नति है वहाँ आध्यात्मिक-जीवन की अवनति है। क्योंकि भौतिकता की उपज है अहंकार, स्वार्थ व कटुतायें, जबकि अध्यात्म की प्रिय सामग्री है साम्यता, कर्तव्यपरायणता व मृदुता! भौतिक उत्थान की उपज है एटमबम तथा नर-संहार और अध्यात्मोत्थान को प्रिय हैं प्रेम व मैत्री!

भारतवर्ष को गर्व है कि उसने अहिंसा के बल पर विदेशी शक्तियों को अपने देश से निकालकर स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, परन्तु वास्तव में उनका यह बल भी मिथ्या है, क्योंकि बाहर से दूर होकर भी वह सर्व शक्तियाँ हमारे अन्तरंग जीवन में प्रवेश कर गयी हैं। जीवन रूपी देश से इन सर्व शक्तियों को बाहर निकालने पर ही हमें वह वास्तविक स्वतन्त्रता उपलब्ध हो सकती है जिसका स्वप्न महात्मा गांधी देखा करते थे। देश ईंट पत्थरों का नाम नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, महलों नगरों के समूह का नाम भी देश नहीं है, देशवासियों के समूह का नाम ही देश है। इस प्रकार समाज व सरकार भी दफ्तरों, कुर्सियों या कागज के ढेर का नाम नहीं है, बल्कि व्यक्तियों का ही समाज या सरकार है।

व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रीय जीवन, इन सबका मूल प्रतीक व्यक्ति स्वयं है। व्यक्ति के पतन से ही समाज, सरकार व राष्ट्र का पतन हुआ करता है और व्यक्ति के उत्थान पर ही इन सबका उत्थान निर्भर है "हमारी सरकार की Policy ठीक नहीं है या सरकारी कर्मचारियों में घूस का बहुत अधिक प्रचार हो रहा है" ऐसा कहने से लाभ नहीं। दूसरों का परिवर्तन कराने का स्वप्न निष्फल है। सरकार व कर्मचारियों में क्रान्ति लानी है तो अपने जीवन में परिवर्तन कीजिये और कल की प्रतीक्षा न करके आज ही कीजिये। व्यक्ति का अन्तष्करण बदल जाने पर क्या सरकार का अन्तष्करण बदले बिना रह जायेगा ? नहीं, वह अवश्य बदलेगा ही ! भले ही कुछ देर लगे क्योंकि सदस्यों के रूप में हम सब व्यक्तियों द्वारा ही तो उसका निर्माण होता है। और इस प्रकार हमारे राष्ट्र के बदल जाने पर क्या अन्य राष्ट्र न बदल जायेंगे ! दीपक से दीपक हुए पंक्तिबद्ध सर्व दीपक प्रकाशित हो उठते हैं। इसी प्रकार एक राष्ट्र के बदलने से उसके पड़ोसी राष्ट्र तथा उसके बदलने से उसके पड़ोसी अन्य राष्ट्र इस प्रकार समस्त विश्व बदल जायेगा। सबको सबके प्रति मित्रता होगी, भय स्वयं भयभीत होकर भाग जायेगा, तब एटमबम की भी क्या आवश्यकता रह जायेगी !

"हथियारों की एकदम उपज करो" ऐसा चीखने से कोई काम होने वाला नहीं है, यदि होगा तो वह ऊपरी होगा, कृत्रिम होगा उसके पीछे मायाचारी छिपी रहेगी, आओ अध्यात्म का आश्रय लेकर हम सब अपनी मलिनताओं को धोकर एक नवीन विश्व का निर्माण करें जिसमें प्रेम ही एटमबम होगा, परस्पर का सहयोग युद्ध होगा और शांति व सन्तोष ही साम्राज्य होगा !

ठीक है यह सब एकदम होने वाला नहीं है, परन्तु एक बार प्रारम्भ हो जाने पर कभी यह स्वप्न साकार रूप अवश्य धारण कर सकता है। पूर्वजों ने वृक्ष लगाये हमने आम खाये, अब हम वृक्ष लगायें तो भावी सन्तान उसके फल खायेगी ! जीवन में प्रेम उत्पन्न करके बाह्य वातावरण को भरसक प्रेम के रंग में रंगना हमारा परम कर्तव्य है। पड़ोसी के कष्ट को अपना कष्ट समझकर उसकी सहायता करें तो वह भी हमारे कष्ट में काम आवेगा ! यह बात ठीक है परन्तु इस प्रकार की कामना से निरपेक्ष केवल एक मानवीय कर्तव्य समझकर ऐसा करने से ही सामाजिक वातावरण में सुधार होगा ! उस वातावरण का उप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोग कौन करेगा ? स्थूल दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि भावी संतान, परन्तु दूरवर्ती दृष्टि से देखने पर हम स्वयं ही उसका उपभोग करेंगे; क्योंकि इस देह को त्यागकर भावी संतान के रूप में हमें ही यहाँ उत्पन्न होना है।

अतः राष्ट्रीय उत्पादन, सामाजिक उत्पादन तथा व्यक्तिगत स्वार्थ तीनों की अपेक्षा रखते हुए हमें अपना आन्तरिक जीवन सुधारना चाहिए और आज ही सुधारना चाहिए, तभी हमारा अपने देश पर तथा महर्षियों व तीर्थंकरों पर गर्व करना सार्थक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. जीवन में अध्यात्म का स्थान

अहिंसा वाणी नवम्बर १९६१

यद्यपि आज के इस भौतिक युग में धर्म व अध्यात्म का कोई मूल्य आँका नहीं जाता, परन्तु भौतिक चकाचौंध से अंधे मानव को यह खबर नहीं कि इसके बिना उसका जीवन अधूरा है। जिस प्रकार अर्थ व काम पुरुषार्थ, कमाना, खाना जीवन के आवश्यक अंग हैं। दुष्कर पुरुषार्थ करते हुए भी तथा अनेकों उपलब्ध भोगों को भोगते हुए भी अन्तर हृदय से निकलने वाली असंतोष व चिन्ता रञ्जित वेदनापूर्ण ध्वनि इस बात की साक्षी है। वर्तमान की ये चिन्तायें जिनके कारण यह जीवन एक भार-सा प्रतीत होता है, वास्तव में आध्यात्मिकता के अभाव का ही यह कटु परिणाम है।

अध्यात्म हमको क्या देता है और किस प्रकार देता है ? यह बात यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं है इसीलिए अविश्वास है, पर तनिक सा विचार करने पर इसकी अदृष्ट महान् देन का साक्षात् हुए बिना नहीं रह सकता ! यद्यपि भौतिक व्यापारों की भाँति इससे किसी दृष्ट धन की प्राप्ति नहीं होती, पर इससे अदृष्ट में पड़ा हुआ शांति व सन्तोष धन मिलता है, जिसका मूल्य सकल विश्व की सम्पत्ति से भी चुकाया नहीं जा सकता। भारी जीवन हल्का बन जाता है। चिन्ता का स्थान हर्ष ले लेता है।

जिस प्रकार बड़ी फीस लेकर एक वकील चार शब्दों में गुथी हुई एक अनुमति ही देता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। फिर भी आप सहर्ष उससे लाभ मानकर उसे स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अध्यात्म भी चार शब्दों में गुथी हुई एक अनुमति ही देता है। विवेकी जीव सहर्ष उसको स्वीकार करके तथा जीवन में अपनाकर उससे उपरोक्त प्रकार लाभ उठा सकते हैं अर्थात् सन्तोष व शान्ति का भण्डार भर लेते हैं। जिस प्रकार वकील की अनुमतिको प्रयोग में न लाने वाले के लिए उसे दी हुई फीस व्यर्थ हुई, उसी प्रकार आध्यात्मिक अनुमति को जीवन में न अपनाने के कारण ही आज का जगत इसको व्यर्थ समझता है। अध्यात्म तो एक शिक्षण मात्र है। इस पर विश्वास करके तदनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करो, तभी इसकी सार्थकता है। खाली वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं। आज का अध्यात्म चर्चाओं तक ही सीमित होने के कारण व्यर्थ दीखता है सो ठीक ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर से पृथक् मैं एक चैतन्य पदार्थ हूँ। इष्ट पदार्थों से बिल्कुल विलक्षण रूप से यह 'अन्दर मैं' की ध्वनि द्वारा प्रत्यक्ष दीख रहा हूँ। एक रूप को छोड़कर अन्य रूप को धारण करता हुआ अथवा एक स्थान से हटकर अन्य-अन्य स्थानों को अपनाता हुआ सदा से चला आ रहा हूँ और इसी प्रकार चलता रहूँगा! यह सब दृष्ट सम्पत्ति व कुटुम्बी जन तो क्षण भर का सम्मेलन मात्र हैं। किसी अन्य स्थान से मेरे पास आये हैं, यहां से अवश्य ही अन्य स्थान पर चले जायेंगे वा बिगड़ जायेंगे या मर जायेंगे। इनके परिवर्तन में हाथ अड़ाने का प्रयत्न करना मूर्खता है इत्यादि। यही तो पाठ है जो कि अध्यात्म सिखाता है।

इस पाठ को पढ़कर सन्यास ही लेना हो सो ऐसी बात नहीं है। गृहस्थ में रहते हुए भी यदि इसको विचारणाओं में अवकाश दिया जाये तो जीवन हल्का हो जाये। यदि ऐसा मिलना व बिछुड़ना ही सत्य है तो इतनी उधेड़ बुन व भाग-दौड़ किसलिए? नहीं, नहीं, गृहस्थ में रहता है इसलिए अर्थ व काम पुरुषार्थ कर्तव्य है। सो कर्तव्य समझकर ही निभाता चला जा। फल की आकांक्षा से क्या प्रयोजन है। कर्तव्य करना मात्र ही तेरा काम है। लाभ या हानि तो भविष्य के हाथ अदृष्ट है। बताइए चिन्ताको अवकाश कहाँ रहा और गृहस्थ का भी काम कहाँ रुका? बल्कि असंतोष के कारण हड़बड़ाहट में जो काम बिगड़ जाते थे या पूरे नहीं हो पाते थे, वे सब पूरे होने लग जायेंगे। चिन्ताओं में जो शक्ति व्यर्थ जाती थी वह भी कार्यकारी हो जायेगी। फलस्वरूप लौकिक व्यापार में वृद्धि होगी। यही है धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष पुरुषार्थों का एकीकरण। अध्यात्म को इस दृष्टि से देखें तो इसका मूल्य स्पष्ट हो जाये।

यह तो व्यक्तिगत जीवन की बात है जिसमें अन्याय व अनीतिको अवकाश नहीं। ऐसे जीवनों से निर्मित समाज भी क्या शांत व सुन्दर न होगा! तथा उन समाजों से निर्मित स्वराष्ट्र भी क्या सुन्दर न होगा? समाज व राष्ट्र ईंट पत्थरों का नाम नहीं है, व्यक्तियों से समाज और समाजों से राष्ट्र बनता है। यदि व्यक्तिगत जीवन में अध्यात्म को अवकाश मिले तो राष्ट्रीय जीवन व वातावरण भी शांत व मधुर बन जाए। दूसरे व्यक्तियों में दोष निकालने से नहीं बल्कि अपने जीवन में आध्यात्मिकता को अपनाने से सब उलझनें खुल सकती हैं। यह है अध्यात्म की अनुपम देन! अतः धनोपार्जन के साथ-साथ आध्यात्मिक शिक्षण प्राप्त करने के लिए, मंदिर आदि स्थानों में व ज्ञानी जनों के सम्पर्क में नित्य ही समय लगाना अत्यन्त आवश्यक है।

•

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. अध्यात्म व अहिंसा

'अहिंसा वाणी'-जुलाई १९६०
(जयपुर अधिवेशन १९६०)

आज यह देखकर बड़ा हर्ष हो रहा है कि आपके हृदय में जहां अहिंसा के प्रति प्रेम है वहां अध्यात्म के प्रति भी कुछ कम आस्था नहीं है। विश्व जैन मिशन के मन्च पर अहिंसा-सम्मेलन के साथ-साथ अध्यात्म-सम्मेलन को भी स्थान मिलना इस बात का साक्षी है।

यद्यपि 'अध्यात्म' शब्द अपने विषय की सूक्ष्मता व गहनता के कारण कुछ जटिल सा प्रतीत होता है तथा इसका विषय भी साधारणतया कुछ शुष्क सा प्रतीत हुआ करता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इसके विषय में शुष्कता की प्रतीति का कारण केवल विद्वज्जनों की कथन-पद्धति है। जो जटिल से जटिलतर बनाकर उपस्थित की जाती है। वास्तव में अध्यात्म शब्द का अर्थ स्वभाव है। गीता में अध्यात्म का लक्षण करते हुए बताया गया है कि अक्षर ब्रह्म अर्थात् आत्मा का परमस्वभाव अध्यात्म कहलाता है। और स्वभाव क्योंकि नित्य ही अनुभव व प्रतीति में आने वाला विषय है अत प्रत्यक्ष है और इसलिये सरल!

अपना स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति जानता है इसलिये उसमें बैठे हुए दुःख व सुख से, चिन्ताओं व निश्चिन्तताओं से, व्याकुलताओं व निराकुलताओं से, अशान्ति या शान्ति से, हिंसा या अहिंसा से, अकर्तव्य व कर्तव्यों से अपरिचित रहना असम्भव है। अध्यात्म अपना जीवन है, अपने जीवन का सार है, जिसको हर व्यक्ति पढ़ सकता है—अतः वह छिपा नहीं रह सकता और इसलिये वह गुप्त नहीं कहा जा सकता। आज तक उसे हौआ समझा जाता रहा, पर अब ऐसा समझना योग्य नहीं।

अपने जीवन में नित्य ही निवास करने वाली तथा इस जीवन को अत्यन्त अन्धकारमय बना देने वाली प्रतिदिन की चिन्ताओं, व्याकुलताओं व कल-कलाहटों से भला कौन व्यक्ति अपरिचित्त है, तथा कौन इन कुटिल चिन्ताओं से मुक्त होना नहीं चाहता। सबके हृदय की एक ही आवाज है तथा एक ही समस्या है और वह यह कि किस प्रकार जीवन कुछ हल्का बन पाये। आज का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन सर पर एक भार बन कर रह गया है। किस प्रकार इसे वास्तविक जीवन बनाया जाये ! एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति का तथा एक देश के प्रति दूसरे देश का संकुचित दृष्टि से देखना जीवन में बैठे हुए भय का परिचय देता है। इसका कारण क्या है तथा इस भय को किस प्रकार मिटाया जा सकता है ?

यद्यपि आज का विश्व भी इसी समस्याको सुलझाने के प्रति प्रयत्नशील बना हुआ है। वैज्ञानिक उन्नति के इस युग में बराबर आगे बढ़ता चला जा रहा है—यह आशा करता हुआ कि सम्भवतः वह इस समस्या को सुलझा सके और मानव जीवन को सुन्दर व निश्चिन्त बना सके। पर फल क्या निकल रहा है सो अदृष्ट नहीं है। चिन्ता व भय घटने की बजाय बराबर बढ़ते जा रहे हैं। मानव सृष्टि आज जीवन व मृत्यु के हिंडोले में झूल रही है। न जाने कब ये अणुबम विस्फुटित होकर जगत में प्रलय मचा दें और यह आज का भौतिक विज्ञान सर्व विश्व को विनाश की गोद में सुलाकर स्वयं भी वहीं विश्राम पा ले।

भो ! बुद्धिशाली मानव ! क्या विचारा है कभी कि आज की यह बाहरी उन्नति आन्तरिक जीवन की उन्नति है या अवनति ! वास्तव में जीवन की उन्नति इस विज्ञान में नहीं बल्कि अध्यात्म-विज्ञान में निहित है। बाहर के वैज्ञानिक आकर्षणों से अन्धा हुआ मानव आज अपने आन्तरिक विज्ञान से आंखें मोड़ बैठा है। यही कारण है जीवन की चिन्ताओं का तथा संशय व भय का। अध्यात्म दो चार योगियों का ही कर्तव्य हो और शेष मानव समाज का नहीं ऐसा नहीं है। अध्यात्म मानव जीवन का सार है। चाहे वह गृहस्थ में रहता हुआ मानव जीवन का अंश बना हुआ हो और चाहे योगी के रूप में स्वतन्त्र जीवन बिता रहा हो।

योगी की बात छोड़िये। देखना यह है कि सामाजिक व्यवस्था में अध्यात्म किस रूप में सहायक हो सकता है तथा अहिंसा-सम्मेलन में बताई गयी अनेकों बातों की पूर्ति इस अकेले अध्यात्म के द्वारा कैसे हो जाती है ? अध्यात्म वास्तव में वह महान् तत्त्व है जो जीवन की हर दिशा में उपयोगी है क्योंकि वह स्वयं जीवन है। अध्यात्म अन्तर्शुद्धि [Moral] का निर्माता है और इसलिये मानव को दानवता से हटाकर मानवता के दर्शन कराता है। यदि ऐसा है तो विचारिये कि क्या अहिंसा तथा सामाजिक व राजकीय व्यवस्था हमसे अछूती रह सकेगी। जहां अध्यात्म है वहां ही सच्ची व स्वाभाविक अहिंसा और सामाजिकता है। जहां अध्यात्म नहीं, वहां वह भी नहीं। क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्म के अभाव में अपनायी जाने वाली अहिंसा व सामाजिकता कृत्रिम है स्वाभाविक नहीं, और कृत्रिमता कभी स्थायी नहीं हुआ करती ! यही कारण है कि महात्मा गांधी के नाम की दुहाई देनेवाली आज की भारत समाज मांस प्रचार के प्रति और पंचशील को स्वीकार कर लेने वाले अनेकों देश युद्ध व संहार के प्रति बढ़े चले जा रहे हैं। समस्या का कोई सच्चा हल हो सकता है तो वह अध्यात्म ही है।

अध्यात्म हमको जिस-एक छोटे से सिद्धान्त का दर्शन कराता है वह केवल इतना है कि यह अन्तर से उठने वाली जो 'मैं' है वह ही वास्तव में जीवन है। वह चैतन्यमूर्ति है, व अमूर्तीक है, वह इन्द्रिय से अगोचर है, वह ज्ञानात्मक है। दुःख व सुख, चिन्ता व शान्ति सब वहां ही उत्पन्न होते हैं, तथा वह ही उनका उपभोग करने में समर्थ है। यह बाहर में दृष्ट शरीर 'मैं' रूप नहीं है। यह भौतिक है अचेतन है। दुःख या सुख, चिन्ता या शान्ति इसकी उपज नहीं है और न ही वह इसका उपभोग कर सकता है। वह पहिला 'मैं' तत्त्व नित्य व अविनाशी है और यह शरीर बाह्य व अनित्य, अर्थात् चिता में रखकर जला दिया जाने वाला। उस 'मैं' तत्त्व को ही आत्मा कहते हैं, जो अन्तर हृदय में ज्ञान द्वारा प्रवेश पाकर ही देखा जाना व महसूस किया जाना सम्भव है। न नेत्रों द्वारा देखा जा सकता है, और न ही शरीर द्वारा महसूस किया जा सकता है।

बस इतना सा ही अध्यात्म का मूल विषय है जो यद्यपि छोटा दीखता है पर अपनी गहनता के कारण अनन्त विस्तार युक्त है। यह हमें हमारे उस वर्तमान जीवन-प्रवाह की भूल को दर्शाता है जो केवल शरीर को जीवन मानकर बहता हुआ जीवन से अत्यन्त दूर हुआ जा रहा है। यदि मैं यह समझ जाऊँ कि मैं तो अन्तर्विलास रूप चैतन्य तत्त्व हूँ मेरी शान्ति व अशान्ति का मूल वह ही है. इस शरीर से वास्तव में मेरा कोई नाता नहीं, तो मेरी प्रवृत्ति में अवश्य अन्तर पड़ जाये। वही काम मेरे लिये कर्तव्य हो जाये जिसके द्वारा कि अन्तर्शान्ति का निर्माण हो या उसको कुछ सहायता मिले। हर वह कार्य जो जीवन में कल्पनायें, विकल्प व चिन्तायें उत्पन्न करे, मेरे लिये अकर्तव्य हो जाये। कर्तव्य से अकर्तव्य की कसौटी लौकिक न्याय नहीं बल्कि अन्तरंग शान्ति हो जायें, वर्तमान का स्वार्थ टल जाये ! यदि कोई कार्य भविष्य में जाकर भी अशान्ति का कारण बन जाये तो वह भी मेरे लिये अकर्तव्य हो जाये !

शान्ति का इतना बहुमान प्रकट हो गया है जिसके जीवन में, वह क्या दूसरे की शान्ति को किसी भी प्रकार से बाधित करने का प्रयत्न करेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या वह कोई भी कार्य ऐसा करेगा, क्या कोई भी विचार ऐसा मन में लायेगा, क्या कोई भी वचन ऐसा कहेगा जिसके द्वारा कि किसी भी छोटे या बड़े प्राणी को कीड़े को या मनुष्यको, गाय को या सूअर को किसी भी प्रकार की मानसिक या शारीरिक पीड़ा हो जाए ? कदापि नहीं करेगा। जो काम स्वयं उसे अपने लिए रुचता नहीं वह दूसरे के लिए भी प्रयोग करना उसके लिए अकर्तव्य हो जायेगा। प्राण से मार देने का तो प्रश्न नहीं झूठ, चोरी, व्यभिचार, जूआ, मनोरंजन व विलास आदि के द्वारा भी वह किसी को कष्ट नहीं पहुंचा सकता। यह कार्य उसके जीवन में कृत्रिम रूप से नहीं, बल्कि स्वाभाविक रूप से ही होने लगता है। इसमें किसी अन्य की प्रेरणा की उसें प्रतीक्षा नहीं होती वह स्वयं उसके जीवन की अन्तर्प्रेरणा है।

इतना ही नहीं विश्व की सबसे बड़ी माँग जो आज साम्यवाद (Communism) के रूप में सामने आ रही है, उसके जीवन का स्वाभाविक कर्तव्य बन जाता है। राज्य नियम के कारण से नहीं, बल्कि स्वयं अन्तर की पुकार की प्रेरणा पाते रहने के कारण ही उसका आचरण अहिंसामयी हो जाता है, क्योंकि दूसरों की आवश्यकता का भी वह उतना ही सम्मान करने लग जाता है जितना कि अपनी आवश्यकताओं का। अपनी आवश्यकताओं की होली में दूसरों की आवश्यकताओं को स्वाहा कर देने की बजाय दूसरों की आवश्यकताओं की वेदी पर अपनी आवश्यकताओं की बलि चढ़ा देने में ही उसे शान्ति व हर्ष की प्रतीति होती है। जिसको कार्यान्वित रूप देने के लिये वह अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर लेता है।

इन बातों के अतिरिक्त और अहिंसा है ही क्या ? 'अध्यात्म, अहिंसा का अत्यन्त व्यापक रूप है। इस एक में ही स्वतः प्राण-हनन, असत्य, चोरी, व्यभिचार, संचय आदि सर्व बातों का निषेध हो जाता है। इसीलिये अहिंसा वास्तव में अध्यात्म की पुत्री है और जिस समाज में अहिंसा के सब अंगों की प्रवृत्ति हो वहाँ भय और संशय का काम क्या ? इस प्रकार अध्यात्म ही वास्तविक अहिंसा और सामाजिक धर्म है।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. स्वतन्त्रता का प्रणेता पर्यूषण

अहिंसा वाणी सितम्बर १९६६

भारत में पर्व या विशेष दिवस मनाने की प्रथा कब से चली आ रही है यह तो बताना कठिन है। पर इतना हम सभी जानते हैं कि जितने पर्व या त्योहार इस देश में मनाये जाते हैं उतने शायद ही किसी देश में प्रचलित हों। वैसे तो हर देश में ही पर्व या दिवस मनाये जाते हैं, परन्तु भारतवर्ष व अन्य देशों से उन दिवसों के मूल में छिपे जो आदर्श हैं उनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारा पवित्र देश अध्यात्मप्रधान है और अन्य देश भौतिकता प्रधान हैं। इसलिये स्वभावतः ही भारत के पर्वों में अध्यात्म और अन्य देशों के पर्वों में राजनैतिकता आदि के आदर्श निहित हैं। भारत की मूल सम्पत्ति अध्यात्म रही है इसलिये किसी भी महापुरुष व पर्व की महत्ता का मापदण्ड यहाँ अध्यात्म प्रधान है। भारत के सभी सम्प्रदाय अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार अनेकों पर्व मनाते हैं, परन्तु सबके मूल में जाकर देखें तो एक ही आदर्श दिखाई देता है मानव जीवन के अन्तर्शोधन पथ पर अग्रसर होते हुए क्रमिक विकास और अन्त में आध्यात्मिक स्वतंत्रता (मोक्ष) की प्राप्ति !

वैसे तो हर प्राणी ही स्वतंत्रता चाहता है परन्तु मानव में ही यह सामर्थ्य है कि अपनी इस अन्तर्निहित इच्छा को व्यक्त कर सके और उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करके उसे प्राप्त कर सके। यह बात ठीक है कि सभी इस स्वतन्त्रता के सत्य स्वरूप को नहीं समझते और इसलिये संघर्ष करते हुए भी प्रायः परतन्त्र बने रहते हैं। उदाहरणार्थ भारतवर्ष विदेशी सत्ता के बन्धनों को तोड़कर राजकीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर भी स्वतन्त्रता का अनुभव न कर सका। औद्योगिक क्षेत्र में भी वह ज्यों-ज्यों स्वतंत्रता प्राप्त करता जा रहा है त्यों-त्यों दूर क्षितिज में इसे अधिकाधिक परतन्त्रता ही दृष्टिगत हो रही है। अपने उद्योगों के लिये बड़ी-बड़ी मशीनों की प्राप्ति, शत्रुओं से देश की रक्षा, अन्न की समस्या आदि में इसे दूसरे देशों के अधीन ही रहना पड़ रहा है परन्तु आश्चर्य है कि फिर भी यह इस कल्पित स्वतंत्रता के पीछे छिपी परतंत्रता को नहीं देख रहा है। देखे भी कैसे, विदेशी संस्कृति ने इसकी विवेक चक्षु पर पट्टी जो बाँध दी है। सत्ताओं ने देश छोड़ दिया तो क्या हुआ वह यहाँ ऐसी संस्कृति की जड़ में समा गये कि अब यह देश हमेशा ही परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहेगा। सच्ची स्वतंत्रता तभी प्राप्त हुई कही जा सकती है जब कि विदेशियों की भौतिक-संस्कृति भी इस देश को छोड़ दे और एक बार पुनः अपनी विस्मृत आध्यात्मिक-संस्कृति के अद्वितीय प्रकाश में आँखें खोल कर दर्शन कर सकें हम अपने उन प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रणीत जगत् पावनकारी आदर्शों के। उन आदर्शों के, जिनका स्मरण कराने के लिए जैन सम्प्रदाय की ओर से देश में मनाया जाता है पर्यूषणपर्व !

भाद्रपद शुक्ला ५ से १४ तक नगर-नगर में और ग्राम-ग्राम में यह पर्व जैन जनता बड़े उत्साह व समारोह के साथ मनाती है। वर्ष भर में संचित पापों का शोधन करके अन्तस्तल को निर्मल बनाने के लिए ही मानो यह पर्व आता है। समस्त कारोबार से निवृत्त होकर १० दिन पर्यन्त बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री व पुरुष सभी मानो जीवन में नवोत्साह भरने के लिए अपना अधिकांश समय धर्म स्थानों में बिताते हैं। पूजा, विधानादि कर्म, धर्मोपदेश श्रवण तथा यथाशक्ति व्रत उपवासादि तपश्चरण करते हैं। और इस प्रकार पर्व कर्म, ज्ञान व तप इस तीनों का सामन्जस्यपूर्ण साधन जुटाता है, परन्तु यह तो है केवल इसका बाह्य रूप ! यदि इतना मात्र ही है तब तो आज का मस्तिष्क इसकी कोई भी महत्ता स्वीकार नहीं कर सकता।

परन्तु वास्तव में इतना ही नहीं बल्कि कुछ और भी है। यह तो केवल इसका भौतिक रूप है। यदि इसके आध्यात्मिक रूप पर दृष्टि डालें तो इस पर्व की ही नहीं बल्कि देश की महत्ता के समक्ष भी नतमस्तक हुए बिना न रहा जाये ! क्योंकि इस पर्व में मिलेगी आपको झांकी इस महान् आदर्श की जिसे यहाँ के पूज्यपाद महर्षियों ने अपने जीवन में अपनाया और जिसका अनुसरण करते हुए यहाँ की जनता ने सदा पारमार्थिक स्वतन्त्रता का अनुभव किया। इसी आदर्श के फलस्वरूप यह देश पहिले सदा पारस्परिक कलह, क्लेशों, स्वार्थ-परक अपराधों व संघर्षों तथा अन्याय व अनीति की विडम्बनाओं से अत्यन्त दूर रहता हुआ सुख-शान्ति व समृद्धि का उपभोग करता रहा।

ये दस दिन दश धर्मों के प्रतीक रूप हैं और इसी कारण इस पर्वको दश-लक्षणी पर्व भी कहते हैं। क्रम से इन धर्मों के नाम हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य। उपरोक्त क्रम से ही प्रत्येक दिन एक-एक धर्म के लिए नियुक्त होता है। इन दश धर्मों में पहले चार से क्रोधादि चार कषायों का शोधन होता है। संयम, सत्य, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य व त्याग ये पाँचों क्रम से हिंसादि पाँचों पापों के विरोधी हैं। और तप मानवीय इच्छाओं और तृष्णाओं को भस्म करके उसमें एक अपूर्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मबल जाग्रत करता है। इस प्रकार ये दश धर्म मानव के सम्पूर्ण दोषों को धोकर उसके चित्त को निर्मल बनाते हैं। स्वार्थ के स्थान पर बलिदान, द्वेष के स्थान पर प्रेम, ईर्ष्या के स्थान पर स्पर्धा, निराशा के स्थान पर आत्मनिर्भरता और कायरता व भय के स्थान पर बल व साहस प्रदान करते हैं।

क्रोध मानव का वह प्रबल शत्रु है जो इसे मानव के रूप में शैतान बना देता है तथा इसके हाथों बड़े-बड़े भयंकर अपराध करवाता है। उत्तम क्षमा धर्म उसे परास्त करके हृदय में उदारता, प्रेम व सहिष्णुता जैसे महान् गुणों का संचार करता है। अभिमान क्रोध का मूल है तथा मानव को अत्यन्त उद्दण्ड बनाकर उसे पतन की ओर ले जाता है। विनय व गुणग्रहण का भाव मिटा-कर उसे खलग्राही बना देता है। उत्तम मार्दव धर्म उसमें नम्रता, मृदुता, विनीतता, गुणग्राह्यता आदि सद्गुणों का प्रसार करता है। मायाचारी की वक्रता व कुटिलता दूर करके उत्तम आर्जव धर्म उसमें सरलता व स्पष्ट भाषण की क्षमता उत्पन्न करता है। उत्तम शौच धर्म लोभ रूपी जीवन बंधनों को काटकर उसके हृदय को पवित्र व निःस्वार्थसेवी बनाता है। इस प्रकार क्षमा से क्रोध, मार्दव से मान, आर्जव से माया और शौच से लोभ को जीतकर यह पर्व मानव के हृदय से चिरसंचित कालिमा पूर्ण अन्धकार का नाश करके उसमें चित्प्रकाश रूप यथार्थ जीवन भरना सिखाता है। कषायों से अभिभूत हृदय ही वास्तविक परतन्त्रता है जिसे विनष्ट करके यह धर्म मानव को वह सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करता है जिसके होने पर न रह जाती हैं राजनीतिक समस्याएँ और न रह पाती है आवश्यकता अनेकों जटिल कानूनों के बन्धनों की, क्योंकि पर्वराज द्वारा पवित्र किया गया हृदय स्वयं ही ब्लैकमार्केट, घूस, परशोषण, सैनिक आक्रमण आदि आक्रमणों से दूर करता है।

इस प्रकार संयम धर्म, इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक पर-पीड़ाकरण से निवृत्तकर मानव को पर-दुःख कातर बनाता है तथा उसे विलासिता से हटाकर सात्वि-कता प्रदान करता है। जिसके फलस्वरूप मांसादि भक्षण, मद्यपान, जूआ, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन व शिकार जैसे दुर्व्यसन उसमें अवकाश नहीं पाते, उत्तम सत्य धर्म से अलीक, कटु, परदुःखकारी, मर्मच्छेदी, व्यंग आदि के दूषित संभाषण निवृत्त होते हैं तथा परहितकारी, मृदु व सत्य संभाषण में प्रवृत्ति होती है। आकिंचन्य धर्म बाह्य दृष्ट पदार्थों में से 'अहं' व 'मम' भाव को दूर करके व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाता है जिससे कि उसमें से ब्लैकमार्केट, घूस व चोरी आदि के दुर्व्यसन मुँह छिपाकर निकल जाते हैं। ब्रह्मचर्य धर्म मानव में से व्यभिचारी भावनाओं को हटाकर पवित्रता, तेज, शारीरिक व मानसिक बल प्रदान करता है। त्याग धर्म परिग्रह व संग्रह की तृष्णा को धोकर दूसरे की व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी-अपनी आवश्यकता देखना सिखाता है। जिसके फलस्वरूप मानव पद-पद पर दूसरे के काम आता है तथा आवश्यकता पड़ने पर दूसरों के हितार्थ अपना सर्वस्व बलिदान करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार हिंसा, चोरी, असत्य व्यभिचार व परिग्रह संग्रह इन पाँचों पापों के मूल को धोकर अन्तष्करण को निर्मल करना ही इस पर्व का महान् उद्देश्य है। जिसे प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति का चित्त अन्यायपूर्ण प्रवृत्तियों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। वह एक सच्चा अहिंसक, सत्यवादी, ईमानदार, ब्रह्मचारी व सन्तोषी बन जाता है। यही है उसकी अन्तरंग स्वतन्त्रता !

उत्तम तप धर्म के द्वारा व्यक्ति अपनी समस्त भौतिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त करके निर्भय हो जाता है। तब न रहता है उसे शारीरिक बाधाओं का भय और न रहती है मानसिक विघ्नों की चिन्ता ! सच पूछो तो यह मानव की इच्छा ही सबसे बड़ी परतन्त्रता है जिसके कारण यह सदा विषयों का दास बना रहता है और सारा जीवन उन्हें प्राप्त करने की चिन्ता में खो देता है। जीवन समाप्त हो जाता है पर इच्छा समाप्त नहीं होती। धन्य हैं वे जो इस प्रबल शत्रु की बन्दी से मुक्त होकर वायुवत् निर्लेप हो गये और शरीर की भी उपेक्षा करके स्वतन्त्र विचरण करने लगे। इच्छा से धन-संग्रह की भावना, इससे स्वार्थ, स्वार्थ से परशोषण में प्रवृत्ति और इस दुष्ट प्रवृत्ति से एटमबम जैसी संहारकारी शक्तियों का उदय होता है। इसे जीत लेने पर न रह जाता है धन प्राप्ति का स्वार्थ और न होती है एटमबम आदि आवश्यकता ! और इस प्रकार पर्यूषण पर्व मानव के समक्ष दस महान आदर्शों की स्थापना करके इसे अपनी पूर्व व स्वाभाविक स्वतन्त्रता की याद दिलाता है। उसमें कोई अलौकिक बल व दिव्य तेज उत्पन्न करता है। दूसरों से प्रेम का व्यवहार करना सिखाता है। 'जीओ व जीने दो' 'स्वयं स्वतन्त्र रहो और दूसरों को स्वतन्त्र रहने दो' का पाठ पढ़ाता है। आज भी यदि विश्व इस पर्व को सच्चे हृदय से अपनाये तो वर्तमान का समस्त संकट व युद्धादि का भय अवश्य दूर हो जाये और सर्वत्र शांति की स्थापना हो जाये।

•

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. वैराग्य

अहिंसा वाणी सितम्बर १९६७

'वैराग्य' यह शब्द एक भारतवासी के लिये कोई नया नहीं है, परन्तु यह बात अवश्य है कि रुढ़ियों में उलझकर यह अपने मौलिक अर्थ को बहुत पीछे छोड़ आया है। भौतिकदृष्टि सम्पन्न आज का मानव बेचारा क्या जाने इसकी महिमा ! इन्द्रियों द्वारा ही पदार्थ को देखकर सत्य-असत्य का निर्णय करने के कारण वह वैराग्य को भी इन्द्रियों द्वारा ही मापने की कल्पना करता है। यही कारण है कि वेष धारण मात्र द्वारा वैराग्य का स्वांग रचने वाले अनेक बहु-रूपिये आज भूमण्डल पर यत्र-तत्र विचरते व दूसरों को वैराग्य का उपदेश देते दिखाई देते हैं। इस सब बाहरी दिखावे के नीचे सच्चा वैराग्य दबकर रह गया है। यद्यपि आंखों से हम नित्य वैरागियों को देखते हैं, परन्तु कभी भी हृदय उदारता से उन्हें वैरागी स्वीकार करने को तैयार नहीं होता; क्योंकि उस पवित्र वेष के पीछे छिपे ख्याति व प्रतिष्ठा आदि के स्वार्थपूर्ण व्यापार के रूप में वहां केवल राग का ही नृत्य दिखाई दे रहा है।

वास्तव में वैराग्य एक अन्तरंग भाव है जो किया नहीं जाता बल्कि हो जाता है। इसमें कृत्रिम त्याग व वेष को अवकाश नहीं, जिस प्रकार घर, भोजन व वस्त्रादि का हठपूर्वक त्याग किया जाना सम्भव है उसी प्रकार वैराग्य किया जाना सम्भव नहीं है। जैसे कि किसी बालक को मिठाई व खिलौने आदि देने पर भी उसके साथ अपने पुत्रवत् प्रेम किया जाना सम्भव नहीं। आप प्रेमभाव या क्रोधभाव का अभिनय कर सकते हैं पर प्रेम या क्रोध नहीं कर सकते इसी प्रकार अन्तष्करण का कोई भी भाव किया नहीं जा सकता। भाव अन्तष्करण की स्वाभाविक उपज हैं, प्रभु की देन है इसलिये वह यथावसर स्वतः हुआ करता है, किया नहीं जाता। बहुत सम्भव है कि गृह-त्यागी एक साधु रागी हो और गृहनिवासी एक गृहस्थ विरागी !

विराग अन्तरंग की उस अरुचि व अप्रीति का नाम है जिसके कारण कि उपलब्ध भोग भी नीरस भासने लगते हैं। जैसा कि पति की मृत्यु हो जाने पर विवाहिता पत्नी के हृदय में देखा जाता है। इसका संबंध न शास्त्र ज्ञान से है और न व्रत व त्याग से। यद्यपि उपरोक्त दृष्टान्त में विराग प्रदर्शन के लिये अभाव सूचक 'अरुचि' व 'अप्रीति, शब्दों का प्रयोग किया है पर वास्तव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में वैराग्य अभावात्मक न होकर सद्भावात्मक है। राग के अभावरूप न कहकर इस भाव को अत्यन्त आसक्तिपूर्ण कहें तो अतिशयोक्ति न होगी।

रुचि व अरुचि, प्रीति व अप्रीति, राग व विराग ये सब भाव परस्पर सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरा सम्भव नहीं। यह बात आपको अवश्य कुछ आश्चर्य-जनक-सी लगेगी, परन्तु सत्य यही है। देखिये उपरोक्त दृष्टान्त में भी इष्ट वियोगज शोक के कारण उस अवस्था में रोने की ही रुचि होती है इसलिये विषयों से अरुचि हो जाती है। पीछे धीरे-धीरे शोक विस्मृत हो जाने पर पुनः मनको विषय भाने लगते हैं। एक विषय से प्रीति होने पर स्वतः उस समय दूसरे विषय से अप्रीति हो जाती है। जैसे कि बालक को अच्छा खिलौना मिलने पर वह अपने पुराने खिलौने को स्वयं छोड़ देता है। इस दृष्टि से देखें तो कोई भी व्यक्ति वास्तव में वैरागी नहीं रागी ही होता है। अनन्तों तीर्थंकर, साधु व संन्यासी हो गये और आगे होंगे। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर एक भी ऐसा न मिलेगा जो सर्वथा विरागी हो। सर्वथा विराग न आज तक किसी को हुआ है और न होना सम्भव है। यह बात सुनकर आप मेरी बुद्धि पर हँसेंगे अवश्य पर तनिक धैर्य धरिये और विराग की यथार्थ परिभाषा जानने के लिए मेरी दृष्टि को समझने का प्रयत्न कीजिये!

विराग का अर्थ है राग का अभाव। तनिक विचारिये कि राग का अभाव हो जाने पर अन्तष्करण में उसके स्थान पर कौन-सा भाव रहेगा। यदि कहें कि विराग रहेगा तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अभावात्मक होने के कारण विराग की अपनी कोई सत्ता ही नहीं है, यदि कहो कि कुछ नहीं रहता तो सर्वशून्यत्व का प्रसंग उपस्थित हुआ जाता है। जिस प्रकार उपरोक्त दृष्टान्त में विषयों की रुचि का स्थान शोक ले लेता है उसी प्रकार यहां राग के अभाव में निराशा व शोक अड्डा जमा लेता हो सो भी बात नहीं है, क्योंकि शोक प्राप्ति के लिए कौन बुद्धिमान व्यक्ति विषयों से उपरत होना पसन्द करेगा अथवा विराग की प्रशंसा करेगा। जिस प्रकार जोंक अपने आगे के पांव जमा लेने पर ही पिछले पांव हटाती है यदि पहले ही हटा दे तो निराधार होकर नीचे गिर पड़े, उसी प्रकार व्यक्ति नवीन उत्तम विषय की प्राप्ति कर लेने के अनन्तर ही पूर्व के पुराने विषय से उपरत होता है। उससे पहले हो जाये तो निराशा में अपने प्राण गंवाये।

यह बात सिद्ध है कि न तो कोई भी व्यक्ति बिना प्राप्त किये कुछ त्याग करता है और न ही कर सकता है। ग्रहण पूर्वक ही त्याग सम्भव है सर्वथा त्याग नहीं। और ग्रहण भी व्यक्त विषय की अपेक्षा किसी अधिक मूल्यवान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तु का होता है। यहां निर्णय इस बात का करना है कि वैराग्य के इस प्रकरण में व्यक्ति को ऐसी कौन सी विभूति प्राप्त हो जाती है जिसके समक्ष कि अन्य सब सामग्री उसे विषवत् प्रतीत होने लगे। वस इसी तथ्य में अध्यात्म का वह सूक्ष्म सार गर्भित है जिसके निकट जाकर मन सहित वाणी लौट आती है। जहां बुद्धि का प्रवेश नहीं और 'नेति-नेति' के अतिरिक्त जिसके प्रतिपादन का अन्य कोई उपाय नहीं। समस्त वेद, शास्त्र, कुरान, व बाइबल आदि उसी के गुण गाते हैं। सर्व आराधकों का एक आराध्य, सर्वसाधकों का एक साध्य और सर्वध्याताओं का एक ध्येय वही है। उसी का आविर्भाव मोक्ष और उसी का तिरोभाव संसार है। जैनदर्शनकार इसे शुद्धात्मतत्त्व, वेदान्ती ब्रह्मतत्त्व, वैष्णव ईश्वर तत्त्व और मुसलमान उसे खुदा कहते हैं।

वह रस-स्वरूप है, आनन्दघन है तथा अमृत है। वही परमार्थ तत्त्व व परम सत्य है। वही जीवन का सार और अन्तरंग का आह्लाद है। बुद्धि का प्रकाश और प्राणों की झंकार है। हृदय का सौन्दर्य और जिव्हा का माधुर्य है, मन की सुषमा और जग उपवन का सौरभ है। सर्व वैभवों का वैभव, सर्व महिमाओं की महिमा और सर्वधनों का धन है। वह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। अत्यन्त गुह्यातिगुह्य वह परम तत्त्व न शब्द का विषय है और न प्रत्यक्ष का। बालूशाही के मधुर स्वादवत् स्वसंवेद्य होने से केवल अपरोक्षानुभूति ही उसे ग्रहण करने को समर्थ है। उसे पा लेने पर सर्व दृष्ट प्रपंच असत्य भासने लगता है। सब कामनायें शान्त हो जाती हैं, और असत् विषयों के प्रति मनकी अनादि कालीन दौड़ स्वतः विराम पाती है। सत् प्राप्ति पर असत् की विक्रान्ति न्यायसंगत ही है। अत्यन्त तृप्तिकर उस परम सत्य की प्रतीति के बिना बाह्य विषयों की सत्ताहीन निःसारता का आभास तथा उनका त्याग सम्भव नहीं। यही कारण है कि तत्त्वोपलब्धि शून्य वैराग्य दम्भमात्र है।

विषयोपरति की ओर से जिसे वैराग्य कहते हैं, अनुभूति की ओर से वही निजानन्द की आसक्ति है। आसक्ति भी साधारण नहीं बल्कि तन्मयता उत्पन्न करके भोक्ता-भोग्य के द्वैतपूर्ण विकल्प को समाप्त कर देने वाली। विषय अनेक हैं, अनित्य हैं, तथा अपने से पृथक् हैं। इसलिए उनकी आसक्ति भी विषय से विषयान्तर होते रहने के कारण चंचल व द्वैतरूप है। दूसरी ओर परम तत्त्व एक है, नित्य है तथा निज स्वरूप है, इसलिए उसकी आसक्ति एक, स्थिर व अद्वैत रूप है। यही उसकी तन्मयता है।

इसी प्रकार का वैराग्य घर, वस्त्र या भोजनादि विषयों के त्याग से नहीं बल्कि वासना के त्याग से, अहंकार के त्याग से तथा चित्त के त्याग से उत्पन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। यही सर्वसंग संन्यास है। यही पुरुषार्थ है, अनन्ता पुरुषार्थ, पर है वह अन्तरंग में; बाह्य में नहीं। विचारों में ही संसार है और विचारों में ही मोक्ष। विचारों में ही राग है और विचारों में ही विराग, विचारों में ही ग्रहण है और विचारों में ही त्याग। बाहर में कुछ करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करने की बजाय विचारों की दिशा घुमाना, उन्हें विषयों की ओर से हटाकर सत् तत्त्व की ओर लगाना ही सच्चा पुरुषार्थ है। वही मोक्षमार्ग है और परम कल्याण है। विषय त्याग का चिन्तवन भी सच्चा पुरुषार्थ नहीं, क्योंकि वह भी वास्तव में विषय विकल्प में ही स्थिर रहने के कारण उसका ग्रहण व भोग ही है त्याग नहीं। विषय का चिन्तवन तो न भावरूप होना चाहिये और न अभाव रूप। आनन्दानुभूति के प्रति अधिकाधिक झुकाव ही यहां पुरुषार्थ शब्द वाच्य है और विषयों से स्वतः उपरत होने के कारण वही वैराग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. तीर्थंकर व अवतारवाद

अहिंसा वाणी सितम्बर १९६५

समय-समय पर मृतप्राय धर्म को नव जीवन देने, जग का कल्याण करने व पाप के अंधकार का विनाश करने के लिये भारत मही पर पुरुष उत्पन्न होते हैं। गीता के शब्दों में जब जब भक्तों पर भीड़ पड़ती है तब-तब भगवान-अवतार धारण करते हैं। वैदिक मत का अवतारवाद और जैनमत का तीर्थंकर-वाद इसी नियम का अनुसरण करता है। वैदिक मान्यता के अनुसार इस युग में यज्ञरूप वराह, कपिल, कृष्ण, व्यास, बुद्ध, कल्कि आदि २४ अवतार माने जाते हैं और जैन मान्यता के अनुसार वृषभ आदि को लेकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकर माने जाते हैं। किसी भी मानवीय केन्द्र में भगवान की १६ कलाओं का पूर्ण विकास होने को भगवान का पूर्ण अवतार कहते हैं और इस प्रकार किसी भी महापुरुष की आत्मा का सम्पूर्ण मलनाश होने पर जो उसमें सम्पूर्ण शुद्ध स्वभाव का उद्भव होता है वही उसका तीर्थंकरत्व है।

अवतार व तीर्थंकर दोनों ही के चरित्र भी लगभग समान हैं। दोनों जगत से पाप को मिटाकर लुप्त हुए धर्म तीर्थ की पुनः व्यवस्था करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वैदिक अवतार तो इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए शारीरिक बल व दैविक चमत्कारों का प्रयोग करते हैं परन्तु तीर्थंकरों को मात्र, ज्ञान व वचन बल का प्रयोग ही पर्याप्त है। उनकी वीतराग पूर्ण शान्त मुद्रा व उनके युक्तिपूर्ण सत्योपदेश के प्रभाव से ही मानव पाप की वृत्तियाँ स्वतः शान्त होकर धर्म व न्याय की ओर झुक जाती हैं। मद, मत्सर, द्वेष, ईर्ष्या, वैमनस्य निष्प्राण हो जाते हैं और एक बार पुनः यह जगती अहिंसा की प्रेम-मयी गोद में खेलने लगती है।

और ऐसा होना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि जीवन का प्रभाव जीवन पर पड़ना सर्व प्रत्यक्ष है। जिस प्रकार दुष्टों की संगति के प्रभाव से सज्जन भी दुष्ट बन जाते हैं। उसी प्रकार क्या धर्ममूर्ति तीर्थंकरों की संगति से दुष्ट भी सज्जन न बन जायेंगे। जिस प्रकार दुष्ट के वचनों से प्रभावित होकर सज्जन का मन भी मलीन हो जाता है उसी प्रकार क्या तीर्थंकर भगवन्तों के अमृत वचनों से प्रभावित होकर दुष्टों के मन भी उज्जवल न हो जायेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४ तीर्थंकरों में से हमारे इस अंक के प्रधान नायक भगवान अजित व सम्भवनाथ दूसरे व तीसरे नम्बर पर आते हैं। यद्यपि इनके जीवन का कोई विशेष इतिहास वर्तमान में उपलब्ध नहीं, परन्तु अन्य तीर्थंकरों की भांति इनका भी गर्भावतरण व जन्म दैवी रूप से बड़े वैभव के साथ हुआ था। लौकान्तिक देवों द्वारा सम्बोधित होकर वैराग्य आना तथा दीक्षा धारण करना, तपश्चरण द्वारा कर्ममल का विनाश करके कैवल्य दशा प्राप्त करना, इनके समवशरण की दैवी रचना तथा उसमें इनका प्रभावशाली होना और अन्त में निर्वाण की प्राप्ति अन्य तीर्थंकरों की भांति इनके जीवन में भी पाये जाते हैं।

निज कल्याण के साथ-साथ जगत को भी कल्याणकर होने के कारण अन्य मुक्तात्माओं की अपेक्षा तीर्थंकरों को अधिक प्रधानता प्राप्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. तीर्थंकरवाद का अनादि प्रवाह क्रम

अहिंसा वाणी अक्टूबर १९६०

समय आता है और चला जाता है। व्यक्ति बदल जाते हैं, देश बदल जाते हैं, राज्य बदल जाते हैं, रीति-रिवाज बदल जाते हैं। समृद्धिशाली भूखे हो जाते हैं और भूखे समृद्ध हो जाते हैं। बाह्य-समृद्धि का प्रभाव राष्ट्रीय सभ्यता पर पड़ता है, जिसके कारण संस्कृति व सभ्यता तक बदल जाती है। सभ्य असभ्य बन जाते हैं और असभ्य सभ्य बन बैठते हैं। कालचक्र विचित्र है और होना भी चाहिये क्योंकि मानवीय हृदय परिवर्तन को पसन्द करता है। एक ही प्रकार के वातावरण से मनुष्य आगे-पीछे अवश्य ऊब जाता है और उसमें क्रान्ति की भीषण गर्जना उत्पन्न हो जाती है। बस यही है कारण विश्व में दीखने वाले इस परिवर्तन का, परिवर्तन तो अवश्य होता रहा और होता रहेगा, परन्तु मानवीय हृदय पर अंकित पूर्व के इतिहास की कुछ धुंधली-सी रूप रेखायें युगों तक भी विनष्ट होने नहीं पातीं। यानी वह ध्रुव ही रहेंगी। परन्तु हाय रे काल ! वह इस धुँधले से स्मरण का जीवित रहना भी सहन नहीं कर सकता.और धीरे-धीरे उन रेखाओं को भी धो डालता है। यही क्रम बराबर चलता रहता है। अत्यन्त प्राचीन इतिहास स्मृति में से निकलता जाता है और उसके पीछे-पीछे का स्मृति में शेष रहता जाता है। उसमें भी निकट का कुछ विशद और उससे आगे-आगे का उत्तरोत्तर धीमा पड़ता जाता है।

इस काल चक्र का प्रभाव अपने देश व अपने जीवन पर भी हम स्पष्ट अनुभव कर रहे हैं। यद्यपि अपनी संस्कृति का पूर्व इतिहास हमारे हृदय पर आज अधिक स्पष्ट नहीं है फिर भी कुछ प्रचलित श्रुतियाँ, कुछ रीति-रिवाज, कुछ त्योहार व कुछ लेख आदि उन रेखाओं को सजीव रखने का यथाशक्ति प्रयास करते हैं भले ही साम्प्रदायिक मान्यताओं के रूप में सही, पर जो कुछ भी इस धरा पर आज भिन्न-भिन्न रूप लिये धार्मिक भावनाओं का प्रवाह देखने में आ रहा है तथा जिन-जिन व्यक्तियों व महापुरुषों के नाम पर धार्मिक भावनाओं को बल मिल रहा है, वे सर्वथा काल्पनिक ही हों यह असम्भव है। और विशेषतः जहाँ उस प्रकार की कल्पनाओं व रूढ़ियों में कोई व्यक्तिगत स्वार्थ दृष्टिगत न होता हो वहाँ तो यह मानना ही पड़ेगा कि इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मान्यताओं के पीछे अवश्य कोई इतिहास छिपा हुआ है। भले ही आज वह याद न रहा हो।

महापुरुषों की प्रसिद्धि भी निष्कारण हो गयी हो ऐसा नहीं हो सकता। बिना किन्हीं असाधारण घटनाओं के किसी को प्रसिद्धि होना असम्भव है। जैसे कि क्राइस्ट, डेवी जॉन, महात्मा गांधी आदि की प्रसिद्धि के पीछे उनका महान् त्याग व पराक्रम छिपा हुआ है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि आज इस पृथ्वीमण्डल पर जितने भी नाम, कुछ विनय पूज्यपने व भक्ति की दृष्टि से लिये जाते हैं; उनके धारी कोई असाधारण व्यक्ति अवश्य ही कभी इस धरा पर विद्यमान थे। किन्हीं ने अपने समय में देश की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाकर और किन्हीं ने अपनी किसी नीति व चतुराई के द्वारा अपने देश को संकट मुक्त कराया है। किन्हीं ने आश्चर्यकारी कोई नया आविष्कार उत्पन्न करके मानव जीवन में क्रान्ति उत्पन्न की है और किन्हीं ने जीवन के सार की प्राप्ति के अर्थ अपना सारा जीवन अर्पण करके मानव समाज में शान्ति उत्पन्न की है। तथा इसी प्रकार किन्हीं ने अन्य-अन्य अनेकों ऐसे असाधारण कार्य किये हैं जिनके कारण कि तत्समयवर्ती मानव समाज का मस्तक स्वतः उनके चरणों में झुके बिना न रह सका। इस संस्कार की छाप इतनी गहरी पड़ी कि आज तक मानव के हृदय-पटल से महानात्माओं के नाम की स्मृति व उनके प्रति की भक्ति धुल न सकी।

वस हमारे इस विशेषांक के मूल नायक श्री बिमल, अनन्त व धर्म ऐसे ही किन्हीं महापुरुषों में से एक हैं। यद्यपि उनके जीवन संबंधी विशेष घटनायें तो आज इतिहास की प्राचीनता में विलुप्त हो चुकी हैं, क्योंकि वे इतने काल पहिले हुए हैं कि सम्भवतः वह काल गणनातीत हो चुका हो; पर जैन सम्प्रदाय में प्रचलित उनके संबंध की मान्यतायें तथा उनके प्रति की अतीव विनय व भक्ति इस बात को सिद्ध करती है कि वे तीनों अपने समय में अवश्य कोई असाधारण व्यक्ति रहे होंगे। जैन मान्यता के अनुसार वे क्रमशः १३ वें व १४ वें तीर्थंकर हुए हैं।

तीर्थंकर उस महान् आत्मा को कहते हैं जो अशान्ति के अथाह सागर में डूबते मानव के लियें जीवनपोत बनकर उसे उसके पार शान्तद्वीप में ले जायें। अर्थात् वह असाधारण व्यक्ति जो अपने मन व बुद्धि को नित्य उठने वाली चिन्ताओं से संकल्पों व विकल्पों से, इच्छाओं व तृष्णाओं से, राग व द्वेष से, काम क्रोधादि कटुताओं से, यहाँ तक कि करुणा व परोपकार की अहंकारपूर्ण विचारणाओं से भी ऊंचे उठाकर, उस शान्त देश में ले गये जहाँ वे पूर्ण शान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व सन्तुष्ट रहते हुए अन्तर्जीवन के माधुर्य का सदा पान करते रहें। ऐसे अद्वितीय अचिन्त्य व पारलौकिक जीवन को पाकर, मानो मानव समाज के लिए पूर्ण शान्ति का आदर्श या देवता बनकर वह पृथ्वी पर अवतरित हुआ हो। वह सहज ही तत्समयवर्ती मानव समाज को अशान्ति के अन्ध-कूप से ऊँचे उठाकर शान्ति के प्रकाश में आने की प्रेरणा देता है। जिसे पाकर अनेकों व्यक्ति तो उसी जन्म में पार हो जाते हैं और अनेकों के जीवन में उस शान्ति की कणिका जागृत हो जाती है, जो बराबर वृद्धिगत होती हुई अगले ३-४ भवों में पूर्णता को स्पर्श कर जाती है। शेष समाज का जीवन भी उनके प्रभाव से अन्याय व अनर्थों से हटकर कुछ उज्जवलता की ओर झुक जाता है। इस प्रकार अखिल मानव समाज के हित का कारण होने से उनको पोत, सेतु, या तीर्थंकर कहा जाना ही युक्त है।

तीर्थंकर को धर्म या शान्ति का प्रवर्तक या जन्मदाता कहना भूल है जैसे कि महाराणा प्रताप या शिवाजी को अथवा उनसे पहिले भगवान राम या कृष्ण को देश भक्ति का जन्मदाता कहना भूल है। वास्तव में धर्म सम्प्रदाय का नाम नहीं, बल्कि शान्ति या शान्ति-पथ का नाम है। क्योंकि शान्ति प्राणीमात्र के जीवन की एक सर्व साधारण मांग है, तथा उसे जीवन में उत्पन्न करने का भी सबको जन्म सिद्ध अधिकार है। इसलिए धर्म को कोई सामाजिक या साम्प्रदायिक नाम देना भी उपयुक्त नहीं है।

शांति प्राणीमात्र की आन्तरिक आवाज है, जो बिना किसी की प्रेरणा के सदा ही सहज रूप से प्राणी के हृदय से उठा करती है। कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेष में जब यह आवाज बहुत जोर पकड़ जाती है तो उसे जीवन में कुछ परिवर्तन करने के लिए उकसाने लगती है। उसे गृहस्थ का व्याकुल वातावरण अब काटखाने को दौड़ता-सा प्रतीत होता है। बस इस प्रेरणा को पाकर अपने जीवन को शांति के साँचे में ढालने के लिए, वह हर उस क्रिया व वातावरण का त्याग करता जाता है जो कि उसे व्याकुलता जनक प्रतीत होता है। और स्वतन्त्र प्रकृति तथा आन्तरिक स्वतन्त्र विचारणाओं का आश्रय लेता हुआ एक निःसंग बनवासी के रूप में स्वतन्त्र विचरने लगता है। विचारणाओं को केन्द्रित करने अर्थात् मानसिक चंचलता पर काबू पाने का अभ्यास करता हुआ एक दिन वह स्वयं शान्त हो जाता है और अन्य प्राणियों की शान्ति प्राप्ति में भी सहज कारण बन जाता है।

ऐसा कोई व्यक्ति इतिहास के किसी निश्चित समय में ही हुआ हो उससे पहले न हुआ हो ऐसा कहा नहीं जा सकता। इतिहास भूला जा सकता है, पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वाभाविक भावनाओं के विकास में बाधा नहीं डाली जा सकती। यह अवश्य हो सकता है और होता रहा कि ज्यों-ज्यों उस आदर्श की स्मृति मन्द पड़ती जाती है त्यों-त्यों मानव इस शांति के सार को भूलता जाता है। और इस प्रकार एक लम्बे समय के पश्चात् वह भावना प्रायः लुप्तवत् हो जाती है परन्तु मर जाये ऐसा नहीं हो पाता, क्योंकि आगे जाकर किसी अन्य व्यक्ति विशेष में वह पुनः जाग उठती है और मानव के मध्य पुनः एक शांतिमूर्ति जन्म पा जाती है। इसको या तो अवतारवाद के रूप में ग्रहण कर लीजिए या स्वभाववाद के रूप में, भक्तिवश इसे अवतार या पैगम्बर तथा सिद्धान्तानुसार एक असाधारण व्यक्ति कहा जाता है।

वास्तव में ऐसा तीर्थंकर कोई इस प्रकार का अवतार नहीं होता, जैसा कि जनसाधारण में समझा जाता है अर्थात् कोई एक ही 'ईश्वर' नाम का व्यक्ति विशेष कुछ-कुछ काल के पश्चात् भिन्न-भिन्न नाम व रूप धारण करके दैवी रूप से प्रगट हो या माता के गर्भ से पैदा हो और इस प्रकार पृथ्वी पर जन्म धर-धर कर पुनः पुनः मानव श्रेणी में प्रवेश पाता हो। वह तो हम सरीखा ही कोई व्यक्ति होता है। अन्तर है तो केवल इतना कि उसकी शांति सम्बन्धी भावना जाग उठी होती है और हमारी सुप्त रहती है। वह अपनी व हमारी अचेत भावनाओं को सचेतना तो अवश्य प्रदान करता है परन्तु कोई भी ऐसी नवीन भावना हममें उत्पन्न नहीं करता जो कि उससे पहिले कभी भी किसी में उत्पन्न न हुई हो। क्योंकि कालचक्र के प्रवाह के कारण यह स्वाभाविक भावना मानव के हृदय में कभी मन्द पड़ जाती है और कभी बढ़ जाती है, इसलिए तीर्थंकरों का जन्म व धर्म का उपदेश भी वराबर हीनाधिक समय के अन्तरालों के पश्चात् होता ही रहता है। नहीं कहा जा सकता कि कितने इस प्रकार के तीर्थंकर इस पृथ्वीमण्डल पर उत्पन्न होकर काल के गाल में समा चुके हैं, और इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि कितने और इस प्रकार के तीर्थंकर यहाँ आगे जन्मधारण करेंगे। काल चक्र की गणना असम्भव है और इसलिए किसी भी तीर्थंकर को धर्म या शांति मार्ग का जन्मदाता नहीं कहा जा सकता। उन्हें धर्म का संचेतक व उत्तेजक अवश्य कहा जा सकता है।

अपनी स्मरणशक्ति पर जोर देकर जब अनुमान को पीछे ले जाने का प्रयत्न करते हैं तो अधिक से अधिक यह उस समय को स्पर्श कर पाता है जब कि भारत में एक तीर्थंकर के रूप में श्री ऋषभदेव ने अवतार लिया था। गणनातीत काल पहिले की बात होने के कारण यह तो पता नहीं कि वे कब हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे पर भारत में प्रचलित श्रुतियों व साम्प्रदायिक मान्यताओं के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस नाम के कोई भी तीर्थंकर या धर्म संचेतक हुए अवश्य हैं। वैदिक पुराणों में ऋषभ का प्रथम अवतार रूप में माना जाना वृषभ या बैल की प्रचलित पूजा तथा जैन पुराणों में वृषभ का प्रथम तीर्थंकर का स्थान प्राप्त होना, इस एक ही अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति की स्मृति को ताजा कर रहे हैं। अंग्रेजी का 'गॉड' शब्द भी उसी की याद दिलाता है, क्योंकि वृषभ का अर्थ बैल है और 'गॉड' या 'गौर' शब्द का भी अर्थ बैल है। इससे सिद्ध है कि विमल, अनन्त व धर्म ही नहीं इनसे पहले भी अनेकों तीर्थंकर हो चुके हैं। उनको भले ही कोई तीर्थंकर के नाम से कहे, अवतार के नाम से कहे या ईश्वर के नाम से।

हमारी स्मरण शक्ति क्योंकि वृषभके काल को उल्लेख कर आगे जाने में असमर्थ है इस कारण हमारे अनुमान में वृषभ ही पहले तीर्थंकर हैं ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वृषभ से पहले भी अनन्तों तीर्थंकर कालक्रम से प्रगट हो चुके हैं। अनुमान की अल्पता पर सर्वता की मुद्रा अंकित करना भूल होगी। बस यह बात वर्तमान स्मृति के आधार पर ही कही जा सकती है कि 'ऋषभ' प्रथम तीर्थंकर, आदि पुरुष, आदि जिन, ब्रह्मा, ज्येष्ठ ब्रह्मा या आदि प्रजापति थे। इनको प्रथम मानकर ही आगे के तीर्थंकरों को गणना क्रम में आज लिया जा रहा है। बस इसी अपेक्षा विमल, अनन्त व धर्म क्रमशः १३ वें १४ वें १५ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। इसी प्रवाह क्रम में भगवान महावीर २४ वें तीर्थंकर हैं। क्योंकि इनके पश्चात् आज तक और कोई भी इस प्रकार के तीर्थंकर की उत्पत्ति, इतिहास या साम्प्रदायिक परम्परा बता नहीं रहे हैं। इसलिए भगवान वीर को अन्तिम तीर्थंकर कहा जाता है। वास्तव में न तो वृषभ आदि हैं और न महावीर अन्तिम, क्योंकि जिस प्रकार वृषभ से पहले गणनातीत तीर्थंकर हो चुके हैं इसी प्रकार आगे-आगे भी कालक्रम से गणनातीत होने वाले हैं।

इन तीर्थंकरों को यद्यपि रुढ़िगत साम्प्रदायिक संकुचित धारणाओं के कारण जैनियों के ही महापुरुष तथा जैन धर्म के ही उपदेष्टा माना जा रहा है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि जैसा कि पहिले बताया जा चुका है 'शान्ति' नामक स्वभाव या धर्म के संचेतक ये तीर्थंकर साम्प्रदायिक बन्धनों में नहीं डाले जा सकते। वे जैनियों के ही नहीं, सर्वमानव समाज के हितैषी थे। वास्तव में तो धर्म शब्द के साथ जैन या बौद्ध विशेषण लगाना भी योग्य नहीं, फिर भी इन्द्रिय व कषाय विजय की प्रधानता होने के कारण तीर्थंकरों का 'जिन' ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वर्थक नाम दिया है। शान्ति की वह पवित्र भावना धीरे-धीरे मन्द पड़ जाने के कारण आज उस मार्ग के अनुयायियों की संख्या भी अल्पमात्र रह गयी है। जिनों के अनुयायी होने के कारण इस अल्प संख्यक समाज को पीछे से जैन नाम दे दिया गया। इसलिये तीर्थंकरों को जैनियों के ही उपास्य कहे जाने की रुढ़ि प्रचलित हो गयी। वास्तव में भिन्न-भिन्न नामों के द्वारा वे ही सर्व सम्प्रदायों के उपास्य हैं। भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी का समस्त हिन्दू समाज में अनन्त चतुर्दशी के रूप में माना जाना भी भगवान अनन्तनाथ के जीवन की किसी विशेष घटना से ही सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरु उद्‌बोधन

१. प्रभु सत्य स्वरुप हैं और इसीलिये वे सत्य से प्रसन्न होते हैं, असत्य से नहीं।
२. भगवान् हाथ-पाँव वाली कोई वस्तु नहीं हैं, बल्कि भावपूर्ण प्रकाश हैं।
३. मोक्ष को बाहरमें मत खोज, अपने अन्दरमें देख।
४. प्रभु के सेवक का सौभाग्य है प्रभु की सेवा।
५. हृदयमें केवल प्रभुको स्थापन करना चाहिये।
६. केवल प्रभु का नाम, हर श्वासमें प्रभु और कुछ नहीं। इससे बड़े से बड़े विघ्न भी फूल बन जाते हैं।
७. सत्संग, प्रभु-प्रेम, भक्ति, आत्मिक-बल, जिज्ञासा आदि प्रभु प्रदत्त संपत्ति है।
८. प्रभु पथ निर्भय है, सिंहों का मार्ग है--गीदड़ोंका नहीं।
९. इस जीवनमें चित्त ही सर्वेसर्वा है, वही संसार है और वही मोक्ष, वही पुण्य है और वही पाप। जिसने उसको सम्यक् प्रकारसे पढ़ लिया उसने सकल विश्वको पढ़ लिया।
१०. चित्त-स्तम्भनको ही योगियों ने महामार्ग कहा है। जिसने उसे जीत लिया उसने सकल विश्वको जीत लिया। उसके नष्ट हो जाने पर यह अखिल प्रपञ्च भी नष्ट हो जाता है।
११. मुमुक्षुको चाहिये कि चित्तकी डोर को ढ़ीली न छोड़े। उसके प्रति सदा जागता रहे और उसे शैतानी करने से रोकता रहे।
१२. विकल्प ही व्यक्तिके सबसे बड़े शत्रु हैं, जो उसका बल व तेज हरण कर लेते हैं, कारणकि असत्याधिष्ठ होनेसे वे स्वयं असत्य हैं। असत्यसे असत्यकी प्राप्ति होती है और सत्यसे सत्यकी। बाह्यके सभी प्रसङ्ग असत्य होते हैं, इनका चिन्तवन करते रहना ही विकल्प है। जो महाभाग इनकी ओरसे आँखें मूंदकर अन्तर्निष्ठ अचल सनातन सत्यको देखते हुये, तथा शरीर व शारीरिक द्वन्द्वोंमें मैं व मेरेपनेको त्यागकर उस तत्त्वमें ही मैं व मेरेपनेको धारण करके चलता है, वह इन विकल्पोंसे मुक्त हो जाता है, प्रभु उसे प्रज्ञानिधि प्रदान करते हैं, उसमें तेज व बल जागृत हो जाता है, जिससे कि जीवनकी बड़ीसे बड़ी विकटताको सहज उल्लंघन करनेके योग्य हो जाता है।
१३. लौकिक चर्चायें करना अच्छा नहीं, इससे नुकसान होता है।
१४. अहंकार ही संघर्षोंका जनक है। उसके अभावमें सब कुछ प्रभुमय है। अनिष्टता कुछ भी वस्तु नहीं है। सर्वत्र प्रभुकी लीलाका विस्तार है। प्रभुमय यह जगत कितना सुन्दर है। हर द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव उसीं के विधानके अंतर्गत हैं। उपसर्गवत् दिखने वाली बातें भी कल्याणमय हैं। अहंकार टूटे बिना इस रहस्य की प्रतीति संभव नहीं।

संकलनकर्त्री
डॉ० कु० निर्मला जैन
वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री जिनेन्द्रवर्णी साहित्य

१	शान्ति पथ प्रदर्शन	५०-००
२	नय दर्पण	३०-००
३	समणसुत्तं	२१-००
४	पदार्थ विज्ञान	१०-००
५	कर्म रहस्य	८-००
६	कर्म सिद्धान्त	६-००
७	सत्य दर्शन	छूट नहीं ७-००
८	कुन्दकुन्द दर्शन	४-००
९	सर्वधर्मसमभाव	१-००
१०	प्रभु वाणी	२-००
११	Science towards Monism	१०-००
१२	Life the God Hood	६-००

(By Sh. Jai Bhagwan Advocate)

नोट : ३०० रु० से अधिक के आर्डर पर २५% छूट। पैकिंग व पोस्टेज आदि का खर्च अतिरिक्त

प्रधान कार्यालय	कार्यालय
श्री जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला	श्री जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला
५८/४ जैन स्ट्रीट,	बी० १९/६० बी० डेयूरियाबीर
पानीपत-१३११०३	भेलूपुर, वाराणसी-२२१०१०

१३	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग १ से ४ (भाग ५ प्रेस में)	भारतीय ज्ञानपीठ १८ इन्स्टीट्यूशनल एरिया लोधी रोड, दिल्ली-३
१४	वर्णी दर्शन	शान्ति निकेतन, ईशरी
१५	उपासना (पूजायें)	उदासीन आश्रम, इन्दौर
१६	जैन तीर्थ क्षेत्र मानचित्र	पन्नालाल जैन आर्चिटैक्ट ४९८३ शिवनगर (करोलबाग) दिल्ली
१७	महायात्रा	सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी
१८	श्रद्धाबिन्दु	अप्रकाशित

भोपाल में दिए हुये प्रवचनों के कैसेट भी उपलब्ध हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi